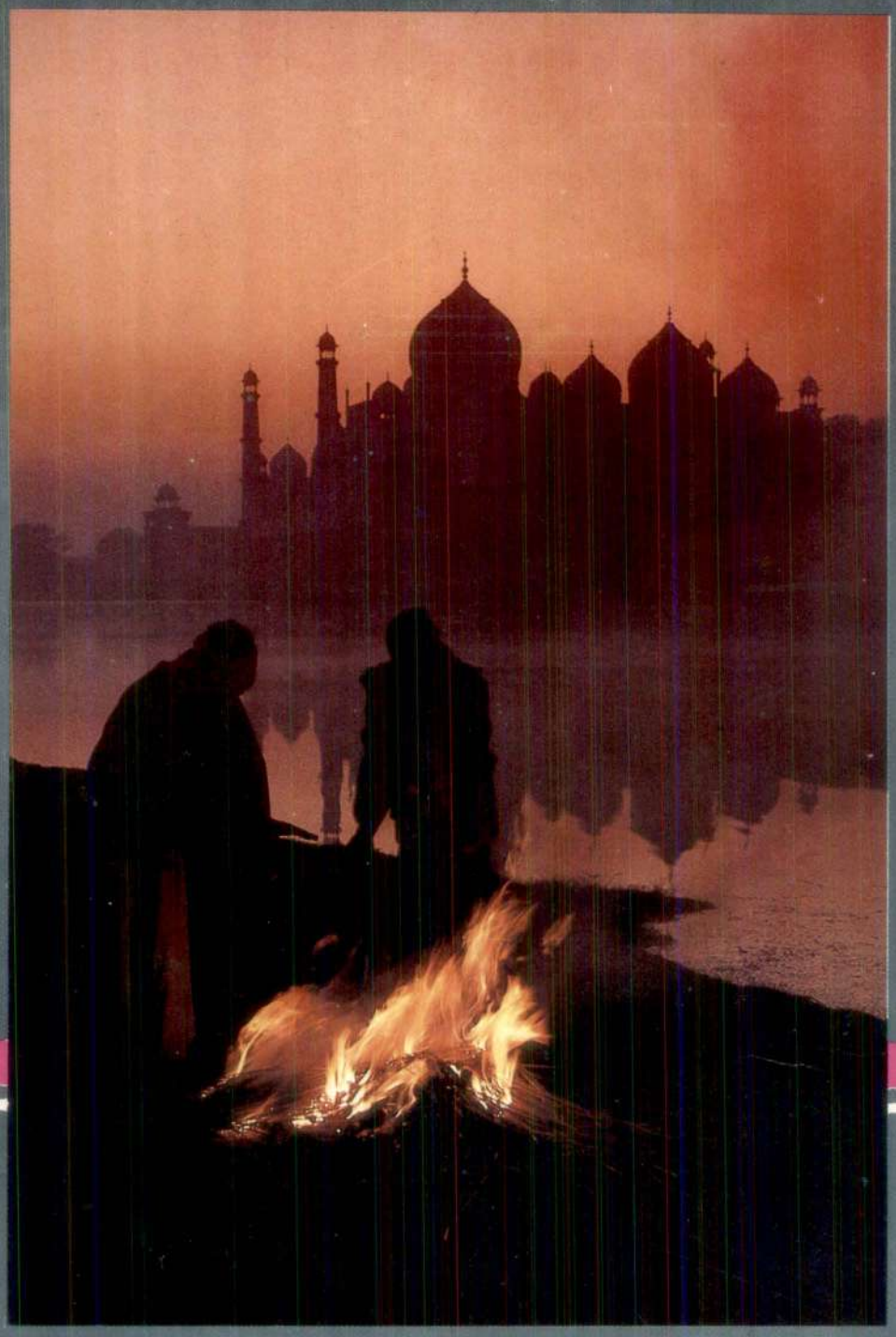
नवंबर, 1995 पांच रुपये

आजकल

साहित्य एवं संस्कृति का मासिक



फोटोग्राफ़ी जीवन के क्षण-विशेष का दर्शन है
रघु राय से श्याम सुंदर सिंह की बातचीत

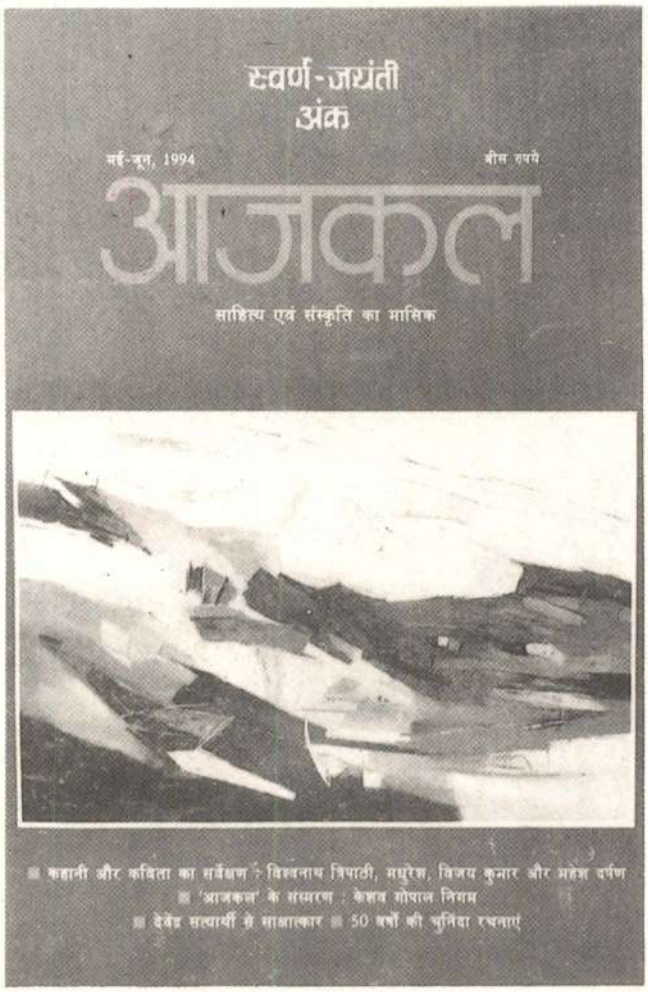
तथ्य और लालित्य
–श्रीप्रसाद भगत

साथ में

धूमिल : कुछ छूटे प्रसंग
–शिव कुमार मिश्र

फोटोग्राफी पर विशेष

पहले पचास साल
□ आर. चेतन क्रांति



स्वर्ण जयंती अंक

आजकल का यह ऐतिहासिक व संग्रहणीय अंक केवल सजिल्द संस्करण में उपलब्ध है। पुस्तकालयों व संग्रहकर्ताओं के लिए विशेष महत्व के इस अंक का मूल्य 110 रुपये।

वार्षिक ग्राहकों को दस प्रतिशत की विशेष छूट।

संपर्क :

व्यापार व्यवस्थापक

प्रकाशन विभाग

पटियाला हाऊस

नई दिल्ली-110001

इस अंक में

स्थापित 1945

आजकल

वर्ष : 52; अंक : 7 पूर्णांक 614;
नवंबर, 1995
कार्तिक-मार्गशीर्ष, शक संवत 1917

संपादक
प्रताप सिंह बिष्ट
सहायक संपादक
योगेंद्र दत्त शर्मा
उप संपादक
हामिद हुसैन

आवरण पारदर्शी : **रघु राय**
सज्जा : **इरफान**

संपादकीय पत्रव्यवहार :
संपादक **'आजकल'**
प्रकाशन विभाग, पटियाला हाउस,
नई दिल्ली-110001; दूरभाष : 3387069

●

चंदे की दरें
एक प्रति : 5 रुपये;
वार्षिक : 50 रुपये;
विदेशों में (हवाई डाक से) एक वर्ष :
पाकिस्तान, बंगला देश, श्रीलंका!
200 रुपये या 7 डालर
शेष विश्व में 20 डालर या 600 रुपये

चंदे व वितरण संबंधी पूछताछ :
व्यापार व्यवस्थापक
प्रकाशन विभाग
सूचना और प्रसारण मंत्रालय
पटियाला हाउस
नई दिल्ली-110001

●

हमारे विक्रय केंद्र

नई दिल्ली : सुपर बाजार, कनाट प्लेस; दूरभाष : 3313908

लखनऊ : 27/6 राममोहन राय मार्ग; दूरभाष : 245785

कलकत्ता : 8, एस्प्लेनेड ईस्ट; दूरभाष : 2488030

पटना : बिहार राज्य सहकारिता बैंक बिल्डिंग, अशोक राजपथ; दूरभाष : 655823

बंबई : कामर्स हाउस, करीम भाई रोड, बालार्ड पायर; दूरभाष : 2610081

तिरुअनंतपुरम : गवर्नमेंट प्रेस के निकट; दूरभाष : 330650

हैदराबाद : राज्य पुरातत्व संग्रहालय बिल्डिंग, पब्लिक गार्डन्स; दूरभाष : 256395

मद्रास : एल.एल.ए. आडीटोरियम, 736, अन्नासलै; दूरभाष : 8525643

लेख

7. 'फोटोग्राफी जीवन के क्षण-विशेष का दर्शन है'
जाने-माने फोटोग्राफर रघु राय से **श्यामसुंदर सिंह** की बातचीत।

13. पहले पचास साल
उपनिवेशवादी ताकतों के लिए कैमरा एक हथियार की हैसियत रखता था। इसका इस्तेमाल उन्होंने किस तरह से इस देश में अपनी पकड़ को मजबूत बनाने के लिए किया? प्रस्तुत है भारत में फोटोग्राफी के पहले पचास वर्षों पर आधारित प्रदर्शनी का मूल्यांकन **आर. चेतन क्रांति** द्वारा।

19. तथ्य और लालित्य
यद्यपि फोटोग्राफी मूलतः तथ्यों के डाक्यूमेंटेशन का काम करती है, इस पर भी वह एक कला माध्यम के रूप से सम्मानित है। फोटोग्राफी पर दिल्ली में हुई दो दिन की गोष्ठी पर **श्रीप्रकाश भगत** की रिपोर्ट।

28. राजा बीरबल
बीरबल उन व्यक्तियों में माने जाते हैं जिन्होंने अकबर को विशेष रूप से प्रभावित किया था। वह अकबर के इतने निकट कैसे पहुंचे कि उनके ज़ीवन का अभिन्न अंग बन गए! प्रस्तुत है **राजमल बोरा** का खोजपरक लेख।

40. धूमिल : कुछ छूटे हुए संदर्भ
छायावाद के बाद की कविता पर शोधकार्य करते हुए **शिवकुमार मिश्र** ने एक ऐसे संकलन की योजना बनाई थी, जिसमें उस दौर के सभी महत्वपूर्ण कवियों को शामिल किया जाना था। इस दौरान धूमिल से हुए पत्र-व्यवहार में लेखक को कुछ कविताएं और एक 'आत्मकथ्य' मिला था। प्रस्तुत है इस अप्रकाशित आत्मकथ्य के बहाने धूमिल का एक मूल्यांकन।

48. जब तक इस दुनिया में बचपन है
बाल-साहित्य के महत्व पर **रमेश चंद्र शाह**

51. सांस्कृतिक जड़ता के विरोधी : रामेश्वर शुक्ल 'अंचल'
कवि 'अंचल' को **हेमंत कुकरेती** की श्रद्धांजलि। साथ ही *आजकल* को भेजा गया 'अंचल' जी का अंतिम गीत।

कहानी

23. चुटकी भर लाल रंग
नीलम कुलश्रेष्ठ

35. घोंसला
आशा बगे की मराठी कहानी

44. मुलाकात
हरिओम राजोरिया

व्यंग्य

53. हिंदी में अद्वैतवाद
सुनील विक्रम सिंह

कविताएं

32. तीन कविताएं
विवेक निराला

33. तीन ग़ज़लें
जितेंद्र त्रिपाठी

34. छह कविताएं
विष्णु चंद्र शर्मा

53. दो ग़ज़लें
विज्ञान व्रत

पुस्तक चर्चा

54. बालोपयोगिता का सवाल
चेतन

57. अच्छे बाल-साहित्य के लिए
कृष्ण कल्कि

60. गांधीजी और गांधीवाद
राजेंद्र धस्माना

62. विकास की त्रासदी
क्षितिज शर्मा

स्तंभ

2. पत्र

63. समीक्षा



युवा हिंदी लेखन

उदीयमानों को तरजीह

● उदीयमान रचनाकारों को इस अंक में काफी तरजीह दी गई है। कविता, कहानी और उपन्यास अर्थात सभी विधाओं में। पंकज चतुर्वेदी और विनीता की कविताओं का भावोत्कर्ष सराहनीय है। संजय सहाय का उपन्यास 'मध्यांतर' प्रेमचंद युगीन भाषा का स्मरण कराता है। ग्रामीण परिवेश का इतना सजीव चित्रण आज के बहुत कम रचनाकारों में दृष्टिगोचर होता है।

— ललन चतुर्वेदी, रांची

विश्व की ओर भी देखें

● आज जब साहित्य लेखन में एक संक्रांति काल दिखाई दे रहा है, जिसमें साहित्य अस्थिर दिखाई दे रहा है तब ऐसी स्थिति में युवा रचनाकारों से परिचय कराने का आपने जो कार्य किया है वह निश्चित ही सराहनीय है। तीस कवियों की कविताएं और सोलह कहानीकारों की कहानियों के साथ-साथ विषय की गंभीरता को लेकर लिखे गए लेख, पत्रिका की सामग्री हैं। इन कवियों में अधिकांश बीस से तीस वर्ष के बीच के हैं। कहानीकार जरूर प्रौढ़ हैं। इनमें से अधिकांश रचनाकार निरंतर साहित्य लेखन के लिए प्रयासरत हैं। फिर भी हम इन रचनाकारों को ठोस नहीं कह सकते। हां, अच्छा जरूर कह सकते हैं। एक ओर पुरानी पीढ़ी धीरे-धीरे समाप्ति की ओर जा रही है वहीं हमें इन युवा रचनाकारों से कुछ उम्मीदें भी दिखाई देती हैं। अंक पढ़ने के बाद युवा रचनाकारों से एक बात जरूर कहूंगा कि युवा रचनाकार को अपने परिवेश और जगत से निकलकर विश्व परिवेश की ओर भी देखना चाहिए। आज संचार माध्यमों का इतना विकास हो चुका है कि हम विश्व की घटना को अनदेखा नहीं कर सकते। मेरा कहना है कि युवा रचनाकारों को विश्व की समस्याओं को भी उठाना चाहिए। किसी भी रचना का महत्व तब बढ़ता है जब वह समय और परिवेश की सीमा से मुक्त हो।

— गजेंद्र नामदेव, सागर

और भी विधाएं हैं

● संजय सहाय का लघु उपन्यास 'मध्यांतर' ग्रामीण परिवेश के चित्रण की दृष्टि से कहीं हल्के से स्व. राही मासूम रजा के अमर उपन्यास *आधा गांव* की याद दिला गया। इस अंक की किसी एक कहानी या कविता के बारे में कुछ भी लिखना शेष अन्य के प्रति अन्याय होगा। फिर भी बद्रीनारायण की 'कैसा तो लगता है' और विनीता की 'बुधिया के लिए—एक व दो' कविताओं ने सीधे-सरल शब्दों से दिल की गहराइयों तक दस्तक दी। इस विशेषांक में ही नहीं बल्कि *आजकल* के सभी अंकों में एक चीज की कमी काफी अखरती है। वह है हास्य-व्यंग्य, लघु नाटक, एकांकी का सर्वथा अभाव! क्या आप इन विधाओं को साहित्य की विधा नहीं मानते?

— सुशील कुमार झा, दुर्ग

आज की कविता

● एक जमाना था जब कविता हमेशा-हमेशा के लिए आदमी के दिलो-दिमाग पर अक्षरशः अंकित हो जाया करती थी लेकिन आज कविता के नाम पर जो कुछ लिखा जा रहा है वह बहुत ही जल्दी बासी हो जाता है। बहरहाल इस अंक में प्रकाशित कुछ कविताएं, मसलन—एकांत श्रीवास्तव की 'मेरा साथ देना', सुलतान अहमद की 'पिछड़ते हुए,' पंकज चतुर्वेदी की 'एक ऐसे समय में,' हेमंत कुकरेती की 'अपने घर में होनी चाहिए हर चीज,' इंदिरा राठौर की 'उड़ान', राम लखन यादव की 'अंधेरे में', विनीता की 'बुधिया के लिए—दो' एवं सिद्धेश्वर सिंह की 'तुम्हारा सामीप्य' काफी हृदयस्पर्शी व विचारोत्तेजक लगीं। और हां, संज्ञा सिंह की कविता 'पतझर जो गया' बेहद प्रभावोत्पादक लगी। कवयित्री के हृदयोद्गार

मरते ही नहीं विचारों की तरह
सपने
फूटते हैं बार-बार अंकुर की तरह
अपने भीतर से
जीवन को जीवन बनाए रखने की
सीख देते हैं
सपने.....

दिलो-दिमाग पर अमिट छाप छोड़ गए। वस्तुतः जीवन को बनाए रखने की सीख देते हैं। सपने यथार्थ बनते हैं—जहां से सुंदर जीवन व संस्कृति की परिकल्पना साकार होती है। विनोद विप्लव की कहानी 'खून' कड़वे यथार्थ को रेखांकित करती हैं जो मानवीय चेतना को झकझोरने में पूर्णतया सक्षम है। कहानी 'उत्कल एक्सप्रेस' में संदीप नाईक की भाषा-शैली काफी प्रभावशाली है। उमेश प्रसाद सिंह की कहानी 'कहीं कुछ टूट रहा है' विचारणीय है। मीराकांत की प्रेमकथा 'दराज' बेहद यादगार रही। साक्षात्कार के अंतर्गत मंगलेश डबराल का यह वाक्य 'मैं बिना चीखे हुए एक चीख को अभिव्यक्त करना चाहता हूं' बड़ा ही विचारोद्बोधक लगा।

— अमल कुमार विश्वास, पूर्णिया

उपेक्षा उचित नहीं

● मंगलेश डबराल जैसे समर्थ कवि का सार्थक साक्षात्कार प्रकाशित करके आपने अपनी संवेदनशीलता का परिचय दिया है। गोपाल राय ने अपने लेख के माध्यम से उपन्यास और उम्र का जो संतुलन स्थापित किया है वह

विचारणीय है। कविताओं में उषा यादव, एकांत श्रीवास्तव, निलय उपाध्याय, रतीनाथ योगेश्वर तथा सुलतान अहमद रुचिकर लगे। हिंदी गीत और ग़ज़लकारों की कमी इस बार भी महसूस हुई। वैसे भी आप मंचीय पहुंच का तर्क देकर जिस तरह गीत और ग़ज़ल की उपेक्षा कर रहे हैं, वह उचित नहीं। वैसे आधुनिक कविताओं में जहां कुछ कविताएं दिल को छू जाती हैं, वहां दूसरी ओर मात्र शब्दजाल तथा आत्मकथ्य का छलावा मात्र है। इस तरह की कविताओं ने पत्रिका का बड़ा हिस्सा हड़प रखा है।

— *हर्ष प्रताप सिंह, रीवां*

युवा की संज्ञा देना अटपटा-सा लगा

● संग्रहणीय इस अंक में 30 से 40 वर्ष के लेखकों को युवा लेखक की संज्ञा देना कुछ अटपटा-सा लग रहा है। युवा लेखक की उम्र की इस परिभाषा से मैं सहमत नहीं। परंतु शुरूआती तीनों लेख जिनके माध्यम से साहित्य को समर्पित लेखकों से हमारा परिचय हुआ, अच्छे लगे। युवा लेखकों के जीवन में ठहरे हुए साहित्यिक पड़ाव पर हलचल पैदा कर आगामी दशक के साहित्यकारों की कोरी सूची में अपना नाम दर्ज कराने को प्रेरित करता है। राजेंद्र गायकवाड़, विज्ञान व्रत तथा वीरेंद्र के रेखाचित्रों का इस अंक को महत्वपूर्ण बनाने में काफी योगदान है।

— *अहमद रजा हाशमी, पटना*

आवश्यकता है प्रतिभा पहचानने की

● हमने कहां सोचा था कि कोई बड़ी पत्रिका कम उम्र के नए रचनाकारों को अपने विशाल हृदय में जगह देगी। आज की सबसे बड़ी आवश्यकता है—युवा शक्ति को प्रोत्साहन देने की। पर किस में इतनी चिंता है? बड़ी पत्रिका या पत्र अपना एक कोना भी नवोदितों को देना नहीं चाहते हैं। क्या निष्ठा या लगन की नए लेखकों में कमी होती है? यदि प्रतिभा के धनी युवाओं को अनुकूल वातावरण मिले, उनका उत्साह बढ़ाया जाए और प्रोत्साहित किया जाए तो निस्संदेह वे अपनी साधना को साकार रूप देने में और अपनी उपस्थिति दर्ज करने में पीछे नहीं रहेंगे। आवश्यकता है उनकी प्रतिभा की पहचान करने और उसका सम्मान करने की। इस संकलन में कहानियों और कविताओं से यह स्पष्ट हो रहा है कि युवा लेखन में मानव संवेदना, प्रकृति-प्रेम और मानवीय मूल्यों की झलक मिलती है।

— *दुरंत विश्वास, हजारीबाग*

प्रोत्साहन की सीमा है

● मृणाल पांडे का पत्र *(आजकल* अक्तूबर, 1995) देखा। उन्होंने आग्रह किया है कि आप मुझे बता दें कि उपन्यासकारों के कृतित्व का पूरा ब्यौरा पाकर ही ऐसे लेख लिखना न्यायसंगत होता है। मैं भी अनुरोध करता हूं कि कृपया श्रीमती पांडे को बता दें कि अपनी साहित्यिक उपलब्धियों के संबंध में गलतफहमी का शिकार होना बड़ा दुखद होता है।

मेरे लिए मृणाल पांडे 'कोई' या 'किसी' नहीं है। मैं दूरदर्शन पर कई बार उनका चेहरा देख चुका हूं और उन्हें एक पत्रकार के रूप में जानता हूं। मैं उनके *'विरुद्ध'* और *'पटरंगपुर पुराण'* शीर्षक उपन्यासों को भी पढ़ चुका हूं। मेरे लेख में केवल 1981-94 की अवधि में प्रकाशित उपन्यासों की ही चर्चा की गई है और लेख के पहले ही पैरा में यह बात स्पष्ट कर दी गई है। जाहिर है कि 1977 में प्रकाशित *'विरुद्ध'* की चर्चा का कोई औचित्य इस लेख में नहीं था। वैसे भी यह नितांत औसत दर्जे का उपन्यास है। अतः इस उपन्यास में *'पटरंगपुर पुराण'* के प्रकाशन के बाद 12 वर्षों तक कोई हिंदी उपन्यास न प्रकाशित होने का मतलब लेखिका की हिंदी लेखन से उदासीनता समझी जाए या उसकी सर्जनात्मकता के चुक जाने का प्रमाण? यदि मृणाल जी के अंग्रेजी उपन्यास की जानकारी मुझे होती भी तो उसकी चर्चा मेरे लेख में नहीं की जा सकती थी। इसलिए उनका आक्रोश व्यर्थ है। मृणाल जी को लिखने या लेखकीय भविष्य के लिए प्रोत्साहन की आवश्यकता नहीं है, यह जानकर खुशी हुई वैसे 'प्रोत्साहन' से अब कुछ होने वाला भी नहीं है। वह लेखन में जहां पहुंच चुकी हैं उससे आगे जाने की कोई संभावना भी नहीं रह गई है। यह मेरी भविष्यवाणी नहीं, तटस्थ मूल्यांकन है।

— गोपाल राय, पटना

महिलाओं की भागीदारी उत्साहवर्द्धक

● संपादकीय में व्यक्त आपके विश्वास से सहमत हूं कि ये लेखक भविष्य के कीर्तिस्तंभ बनेंगे। कहानी विधा में बिहार के लेखकों को पर्याप्त स्थान मिला है, कविता में क्यों नहीं? मीराकांत की कहानी 'दराज' इस अंक की श्रेष्ठ उपलब्धि मानी जा सकती है। संजय कुमार सिंह, जयनंदन, अलका सरावगी और क्षमा कौल की कहानियां भी अच्छी लगीं। संजय सहाय का उपन्यास भी सिद्धहस्तता का परिचायक है। इसके अतिरिक्त साक्षात्कार एवं पुस्तक चर्चा भी उपयोगी है। युवा लेखकों में महिलाओं की भागीदारी काफी उत्साहवर्द्धक है।

— *विनय कुमार चौधरी, मधेपुरा*

युवा प्रतिभाओं की खोज

● संजय सहाय का 'मध्यांतर' पढ़कर सहाय की तुलना प्रेमचंद से करने की इच्छा हुई। इंदिरा राठौर की 'उड़ान', उषा यादव की 'कुंआरे सपने' एवं 'एक हरी टहनी पर' तथा विजय शंकर चतुर्वेदी आदि की कविताएं इस बात का अहसास दिलाने में

सफल रहीं कि *आजकल* आज भी युवा प्रतिभाओं को भीड़ से खोजता है।

— रमेश ऋत्विक, पूर्वी चंपारण

पत्रिका का उच्च स्तर

● 'परंपरा से रिश्ता और समकालीन दृष्टि : नए लेखकों का संदर्भ,' कविता, कहानी में सही लोगों का चयन करके पत्रिका का उच्च स्तर सामने आता है। उमेश प्रसाद सिंह 'कहीं कुछ टूट रहा है', मीराकांत 'दराज' कहानी एवं कुछ कविताएं सुरुचिपूर्ण, ज्ञानवर्द्धक और प्रेरणादायक हैं।

— महेश प्रसाद शुक्ल, सागर

एक ही प्रकार के ख्याल

● युवा हिंदी लेखन विशेषांक पढ़ना जैसे संभावनाओं की तलाश के जरिए सृजनात्मक ऊर्जा से परिचित होना भी था। कुछ जिन्हें बराबर पढ़ा जा रहा है कुछ ऐसे नए हस्ताक्षर, जिन्हें पहली बार पढ़ा और जाना। कुछ युवा रचनाकार छूट भी गए हैं। ऐसे प्रयास की जितनी सराहना की जाए थोड़ी है। इनके पीछे खड़े रचनाकारों को निश्चय ही प्रेरणा मिलेगी। पर लगता है, युवा हिंदी लेखन में एक ही प्रकार के ख्यालात 'रिपीट' हो रहे हैं।

— राजन, सूर्यगढ़ा

नई पीढ़ी के लेखक

● नए कवियों तथा लेखकों को पत्रिका में स्थान देने के लिए मैं व्यक्तिगत रूप से *आजकल* परिवार को धन्यवाद देता हूं। आज प्रायः पत्र-पत्रिकाएं नए रचनाकारों को नजरअंदाज कर देती हैं। जबकि नई पीढ़ी के कवियों-लेखकों में नई विचारधाराएं, नव अनुभूतियां तथा सामाजिक राष्ट्रीय परिदृश्य के बेहतर साक्षी हैं। इसलिए वे रचना के माध्यम से अपनी सशक्त अभिव्यक्ति दे सकते हैं।

— सुभाष कुमार गुप्ता, पूर्णिया

क्या यह अनुकृति नहीं है?

● नए लेखकों के संदर्भ में उनके सरोकारों की एक झलक मिली। अंक जानकारी से भरपूर और रुचिकर लगा। किंतु एक स्वनामधन्य दिवंगत पत्रिका *सारिका* की शैली की अनुकृति यत्र-तत्र देखने को मिली। आपके स्तंभ 'प्रकाशकीय' का हुलिया *सारिका* के अपनी बात वाले पृष्ठ से काफी मिलता-जुलता प्रतीत हुआ। अनुकृति की अति तो वहां प्रतीत हुई जहां पृष्ठ 101 पर आपकी लेखिका मुक्ता जी ने लगभग एक दशक पूर्व *सारिका* में प्रकाशित एक शीर्षक का ज्यों का त्यों अपहरण कर लिया। ज्ञातव्य है कि *सारिका* के दिसंबर 85 द्वितीय पक्ष के अंक में पृ. 18 पर 'चल खुसरो घर आपने' शीर्षक से एक कहानी प्रकाशित हुई थी, जिसके लेखक सुरेंद्र सुकुमार हैं। आपकी ख्यातनामा पत्रिका में प्रकाशित 'चल खुसरो घर आपने' शीर्षक को क्या अनुकृति अथवा साहित्यिक अपहरण की संज्ञा नहीं दी जा सकती?

— शाश्वत शुक्ल, इलाहाबाद

सतर्कता की जरूरत थी

● मंगलेश डबराल से लिया गया साक्षात्कार एक महत्वपूर्ण उपलब्धि है। परंतु रचनाओं के चयन में थोड़ी और सतर्कता की जरूरत थी। विजय कुमार, जानकी प्रसाद शर्मा और गोपाल राय के आलेखों में उनके द्वारा क्रमशः कविता, कहानी और उपन्यास से संबंधित युवा लेखन की पड़ताल पढ़कर प्रसन्नता हुई। हालांकि यह संपूर्ण चर्चा नहीं थी। युवा हिंदी आलोचना के संदर्भ में कोई आलेख न पाकर निराशा हुई, इस पर लेख अवश्य होना था।

— धर्मेंद्र कुमार, बोकारो

कौन-सा कमाल कर दिया?

● यह अंक प्रशंसनीय है पर इसकी प्रशंसा में आपकी इस प्रस्तुति पर बहुत ज्यादा ताली नहीं पीटी जा सकती। क्योंकि अपने प्रकाशन के 51वें वर्ष में यदि आपने मात्र एक अंक युवा हिंदी लेखकों के सम्मान में निकाला है तो भला कौन-सा अदम्य उत्साह वाला काम किया? एक बात और खटक गई कि आपने 40 वर्ष तक के रचनाकारों को युवाओं की श्रेणी में डाला। युवाओं के इस अंक में आपने प्रौढ़ों को भी शामिल किया और उन्हें युवा होने का तमगा प्रदान किया – उनकी रचनाओं को प्रकाशित करके। रचनाएं किसी की बुरी नहीं हैं और लगभग प्रकाशित रचनाकार साहित्य में स्थापित नाम हैं पर शायद यह अच्छा होता कि युवाओं के इस आयोजन में आप मोटे तौर पर 30 तक के लोगों को शामिल करते। हो सकता है कि 30 वर्ष की आयु सीमा वाले रचनाकारों की रचनाएं आपके पास पर्याप्त मात्रा में न होंगी और आप चूंकि विशेषांक-सह संयुक्तांक निकाल रहे थे तो अंक पतला कैसे निकालते इसलिए पृष्ठों को बढ़ाने और अंक को मोटा बनाने हेतु ही आपने इस आयोजन में 40 वर्ष की आयु सीमा के लोगों को शामिल किया।

कविता, कहानी और उपन्यास पर क्रमशः विजय कुमार, जानकीप्रसाद शर्मा और गोपाल राय की टिप्पणियां, साहित्य की तीनों विधाओं की संतुलित समीक्षा और आलोचना करती हैं। इस अंक में कुछ युवा कवियों के नाम न देखकर भारी निराशा हुई, मसलन – विनय सौरभ, संजय कुंदन, राजेश झरपुरे,

शहंशाह आलम, रमेश ऋतंभर, और साजीना आदि। इस अंक में सभी कविताएं अच्छी हैं—दो-चार को छोड़कर। कवियों में पर्याप्त संभावनाएं हैं भविष्य के लिए। उनकी कविताओं में प्रेम है, विरह है, आक्रोश है, भूत है, वर्तमान है, और भविष्य भी।

कहानियों में प्रियदर्शन की कहानी 'अजनबीपन' बेगानी दिल्ली की सही तस्वीर तलाशने का एक प्रयास-सा लगता है। जयनंदन की कहानी 'छोटा किसान' और संजय सिंह की 'हवाई जहाज' के अलावा तेजी ग्रोवर, प्रेमपाल शर्मा, मीराकांत, क्षमा शर्मा, विनोद विप्लव और हरिसुमन विष्ट की कहानियां भी अच्छी रही हैं। संजय सहाय के उपन्यास के साथ, मिथिलेश श्रीवास्तव की मंगलेश डबराल से बातचीत और मंगलेश डबराल के ही कविता संग्रह *हम जो देखते हैं* पर पंकज चतुर्वेदी की समीक्षा इस अंक को और प्रभावशाली बनाती हैं। सबसे बड़ी बात यह है कि इस अंक के लेखकों को शताब्दी वर्ष में *आजकल* में शामिल किया जाएगा। मेरी शुभकामनाएं इस अंक के सभी लेखकों के साथ हैं। ईश्वर उन सबको स्वस्थ रखे ताकि वे शताब्दी वर्ष में प्रकाशित *आजकल* को पढ़ सकें और अपने आप पर भी गौरवान्वित हो सकें।

— कुमार पुष्पेश रंजन, भागलपुर

अपने दौर की चिंताएं

● पत्रिका बेहद विनम्र भाषा में 'प्रकाशकीय' में अपनी बात कहती है। इस संकलन में निश्चित तौर पर कुछ ऐसे लोगों की रचनाएं हैं जिनसे पाठक पहली बार परिचित होंगे पर कई नाम ऐसे हैं जो परिचय के मोहताज नहीं हैं। एकांत श्रीवास्तव, संजय चतुर्वेदी, विमल कुमार ऐसे नाम हैं जिनकी कविताओं से हिंदी का पाठक अच्छी तरह परिचित है। विमल जी की 'एकांत में हत्या' और 'एक नन्ही-सी लड़की की डायरी', संजय चतुर्वेदी की 'सहेलियों के सांभर में', तथा कृष्ण मोहन झा की 'जीतपुर किसी गांव का नाम नहीं है' जैसी कविताएं इस बात का प्रमाण हैं कि ऐकांतिक संवेदना के इस युग में समष्टिगत चिंताएं बाकी हैं। यही युवा लेखन की सामर्थ्य है और यही उसकी विरासत भी। अलका सरावगी, लाल्टू, प्रेमपाल शर्मा तथा संजय कुमार सिंह की कहानियां हमारी संवेदना को झकझोरने और अपने दौर को समझने के लिए अलग-अलग खिड़कियां खोलने का दायित्व बखूबी निभाती हैं। 'यह भी सही है' ऐसा आईना है जो नकली संवेदनाओं को मेकअप करके चलने वाले समाज को मुंह छुपा लेने को बाध्य कर देता है। इसको पढ़कर हरिशंकर परसाई के सहानुभूति वाले व्यंग्य की याद ताजा हो जाती है। प्रेमपाल शर्मा की कहानी 'पिज्जा और छेदीलाल' हमारी संवेदना को झकझोरने और अपने दौर को समझने के लिए अलग ढंग से पेश होती है। क्षमा शर्मा की कहानी 'कैसी हो सुष्मिता' छद्म लोकतांत्रिक चेतना की चादर ओढ़े उपभोक्तावाद को बेनकाब करती है। संजय कुमार सिंह की कहानी 'हवाई जहाज' पाठक की संवेदनशीलता को जगा देती है। 'बुधवा की आंखों में इलोह' जैसे वाक्य प्रेमचंद की कहानियों में गुंफित शिल्प की याद दिलाते हैं 'छोटा किसान' के कहानीकार जयनंदन की कहानी कथ्य और शिल्प दोनों ही दृष्टिकोण से पूर्ण है।

संजय सहाय लिखित 'मध्यांतर' इस बात की पुष्टि करता है कि हमारा ग्रामीण समाज उसी दिशा में तेजी से बढ़ रहा है जिस दिशा में उसने 'रागदरबारी' के जमाने से कदम बढ़ाए थे। बिहार के एक गांव की उस कहानी को देखकर भय होता है कि इस विकृत और संवेदनशून्य मौत की मुक्ति का मार्ग क्या है, संपत्ति के लोभ, शोषण और व्यभिचार में डूबते समाज में नक्सलवाद भी हिंसा का एक पर्याय बनकर रह जाता है। उपन्यास छोटी जातियों के स्वाभिमान के संघर्ष को उन्हीं के स्वार्थों में टूटता हुआ देखता है। क्षमा कौल की कहानी में प्रस्तुत पंक्तियां बेहद उत्तेजक और समाज के उन लोगों को करारा तमाचा हैं जिनकी नजर में औरत एक भोग्या है—'प्रण किया था कि जब तक फोन नहीं करोगी थमूंगा नहीं। बिल्कुल नहीं। जानती हो, हर क्षण सिर्फ तुममें डूबा रहता हूं। खोया रहता हूं। पागल रहता हूं। कितनी सुखद बात है कि उम्र में मुझसे खासा छोटा लड़का मुझसे प्यार करता था। मैं उस पुरुष को कहना चाहती हूं जिसने मुझे भोगकर त्याग दिया।' दूसरी तरफ तेजी ग्रोवर द्वारा लिखित 'अमोनिया' उबाऊ और आलस्य-भरी कहानी है। कहीं भी कहानी में आत्मा नजर नहीं आती। फिर भी मिला-जुलाकर पांचों उंगलियां बराबर तो नहीं होतीं।

— मनोज कुमार सिंह, मधेपुरा

नाम की जगह रचना का चयन करना था

● युवा हिंदी लेखन का आयोजन एक ऐसे समय में स्पष्ट हस्तक्षेप है, जब रचनात्मक विरोध के संकट के शगूफे उछाले जा रहे हैं। इस अंक में यह परखने की भरपूर कोशिश की गई है कि इस ढलती सदी के अंतिम दशक के नए लेखकों की ओजस्विता और परिवर्तनगामी चेतना किस स्तर तक अपने पूरे समय के सवालों से टकराते हुए समग्रता और संश्लिष्टता के परिताप को अपनी रचना में संप्रेषित किस हद तक हो पाती है। कहानी, कविता, और उपन्यास की समकालीनता पर केंद्रित तीनों आलेख समीक्षा के प्रतिमानों को सहजता से उजागर करते हैं। विजय कुमार का कथन स्पष्टोक्ति का प्रमाण है कि हम एक जिद की तरह कविता लिख रहे हैं। जाहिर है कि यही जिद इस निरंकुश सभ्यता में बची हुई संवेदनशीलता को मुखरित करती है। जानकी प्रसाद शर्मा

पृष्ठ 64 पर जारी





साक्षात्कार

'फोटोग्राफी जीवन के क्षण-विशेष का दर्शन है'

अच्छी कला सुंदर ही नहीं, अर्थपूर्ण भी होती है। उसकी अपनी गहराई, अपनी पहुंच और अपनी पकड़ होती है। इसी तरह अच्छी तस्वीर ऐसी होनी चाहिए जो दूर तक फोटोग्राफर की पहुंच, पकड़ और गहराई को बताए। प्रस्तुत है जाने-माने फोटोग्राफर रघु राय से **श्यामसुंदर सिंह** *की बातचीत। साथ में उनके खींचे फोटोग्राफ।*

प्रश्न : **एक अच्छा फोटोग्राफ किसे कहेंगे?**

उत्तर : फोटोग्राफी के बहुत सारे रूप हैं-- फैशन, इंडस्ट्रियल, जर्नलिस्टिक आदि। लेकिन 'क्रियेटिविटी' सभी में समान रूप से अपेक्षित है। 'क्रियेटिविटी' का मतलब यह कि फोटोग्राफ में नयापन जरूर हो। जिसे देखने से आदमी जाग जाए और 'वाह! यह तो कमाल का है' कह उठे। सीमित दिमाग वाले लोग सोचते हैं कि कला को सुंदर होना ही चाहिए। यह मापदंड सही नहीं है। क्योंकि अच्छी कला सुंदर ही नहीं, अर्थपूर्ण भी होती है। उसकी अपनी गहराई, अपनी पहुंच और अपनी पकड़ होती है। जो मनुष्य देखने में सुंदर नहीं है, पता नहीं उसमें कितनी शक्ति और कितना गहरापन है। दिखने वाली सुंदरता या शारीरिक सौंदर्य ऊपर की चीज होती है लेकिन जिस इंसान में अंदर की सुंदरता है वह कहीं अधिक बेहतर है। उसी तरह तस्वीर ऐसी होनी चाहिए जो दूर तक आपकी पहुंच,पकड़ और गहराई को बताए, जिसके एक मायने हों ताकि देखने वाले को समझने और अनुभव प्राप्त करने को

कुछ नया मिले। दर्शक को सोचने के लिए मजबूर करे। क्योंकि मानव मन अंदर से बड़ा आलसी होता है। उसको वही चीज पहली नजर में भाती है जो मीठी हो, सुंदर हो, आसानी से समझ में आ जाए। बहुत कम लोग यथार्थ को परखना चाहते हैं। अच्छा फोटोग्राफ हम उसी को कह सकते हैं जिसे देखकर जिंदगी के नए मायने समझ में आ जाएं।

विभिन्न प्रकार की फोटोग्राफी की कलात्मकता में क्या अंतर होता है?

देखिए, फोटोग्राफी चाहे इंडस्ट्रियल या जर्नलिस्टिक हो, चाहे फैशन, मानव जीवन, प्रकृति या वन्य जीवन से संबंधित हो, सबमें दृष्टिकोण नया होना चाहिए। यह अलग बात है कि सबके लिए भिन्न 'एप्रोच' एवं भिन्न-भिन्न प्रकार के लेंस की आवश्यकता होती है। यानी कि ये सब तकनीकी रूप से अलग-अलग प्रकार की होती हैं लेकिन इनके दबाव, इनकी शक्ति, समझ और पकड़ समान होती है।

यानी किसी विशेष रूप या प्रकार की फोटोग्राफी की महत्ता को आप स्वीकार नहीं करते?

नहीं, जो जीवन और प्रकृति का ईमानदारीपूर्वक डाक्यूमेंटेशन करते हैं उन्हें मैं ज्यादा महत्व देता हूं। हां, रचनात्मक आदमी किसी भी क्षेत्र में अच्छा कर सकता है लेकिन महानता उसी में है जो प्रकृति और जिंदगी का दर्शन कराए।

रंगीन और श्वेत-श्याम फोटोग्राफी में से आप किसे अधिक तरजीह देते हैं?

रंगीन फोटोग्राफी आजकल बहुत आसान और सस्ती हो गई है। लेकिन इसमें कलात्मक फोटोग्राफ बनाना बहुत ही मुश्किल है, क्योंकि रंगों पर नियंत्रण बहुत ही कम रह पाता है। जबकि श्वेत-श्याम में ज्यादा संतुलन और गहराई होती है। जिस तरह एक पेंटर रंगों का उपयोग अपने मन से कर सकता है, हम नहीं कर सकते। हम एक अच्छा दृश्य देख रहे हैं, समझ भी रहे हैं लेकिन वहां पर जो प्रकृति के, लोगों के, कपड़ों के या किसी अन्य तरह के रंग हैं उन्हें बदल नहीं सकते। पर उनमें आपसी संबंध नहीं बन पाता। रंग हार्मोनाइज्ड नहीं होता। यहां पर आकर बड़ी मुश्किल होती है और इसलिए अभी भी बहुत सारे गंभीर फोटोग्राफर श्वेत-श्याम को ही ज्यादा महत्वपूर्ण मानते हैं।

आपकी क्या राय है?

पहले मैं श्वेत-श्याम ही करता था। फिर वर्षों तक रंगीन किया और इनकी आठ फोटो पुस्तकें भी बनाईं। पर अब बहुत सारा श्वेत-श्याम भी करने लगा हूं। रंगीन बनाम श्वेत-श्याम की भी एक पुस्तक तैयार करूंगा जिसमें एक ही दृश्य की रंगीन और श्वेत-श्याम तस्वीर खींचकर विश्लेषण प्रस्तुत करूंगा कि कौन-सी तस्वीर क्या कहती है। सच तो यह है कि जिंदगी रंगों से भरी पड़ी है और उसको पूर्ण श्वेत-श्याम में कर देना पूरा सत्य नहीं हो सकता लेकिन 'हार्मोनी' इसी में ज्यादा है। इस तरह हरेक के अपने अलग गुण हैं। विभिन्न स्थिति में एक बढ़िया रंगीन तस्वीर भी मिल सकती है और एक बढ़िया श्वेत-श्याम भी। मैं यहां तक मानता हूं कि रंगीन का मजा तब आता है जब उसे श्वेत-श्याम में परिवर्तित करने पर भी उसकी शक्ति कायम रहे।

रंगीन से श्वेत-श्याम में आपके आने का कारण कहीं यह तो नहीं कि लगा हो, कुछ चीजें जो आप कहना चाहते हैं वह रंगीन में नहीं आ पातीं?

असल में रंगीन फिल्मों की गुणात्मकता एवं इनके आचरण अलग-अलग समय एवं स्थितियों में बदलते रहते हैं। मान लीजिए, देर शाम की कम रोशनी





में आप कुछ देख रहे हैं जो अनोखी है। इसे अगर रंगीन में शूट करेंगे तो रंगों का संतुलन एवं सत्यता नहीं आ पाएगी। क्योंकि संध्या समय का रंग-प्रभाव रंगीन फिल्मों पर प्राकृतिक नहीं रहता। वह ज्यादा लाल, नारंगी या नीला हो जाएगा। अगर इसे श्वेत-श्याम में शूट किया जाए तो उस पर कोई बाहरी प्रभाव नहीं पड़ता। इस तरह कुल मिलाकर अगर आप देखें तो बेहतर कलात्मक कार्य श्वेत-श्याम में ही हो पाता है और इसलिए यही फोटोग्राफी अच्छी है।

पेशेगत और आत्मसंतुष्टि के लिए की गई फोटोग्राफी में से बेहतर किसे मानते हैं?

जिस प्रकृति और जीवन की बात हम कह रहे हैं उसमें आत्मसंतुष्टि पाना एक बड़ी बात है। बाकी में भी कई बार लोग कह उठते हैं—वाह, वाह क्या देखा! लेकिन अक्सर ऊपर की ही उत्तेजना होती है जो भावनात्मक किस्म का ड्रामा रचती है। अंदर से देखो तो कुछ भी नहीं है। सब ही एक पैटर्न बना हुआ है—ड्रामा का, सुंदर लड़कियों और लड़कों के जिस्मों का, उछल-कूद का तमाशा। देखिए, अनेक लोग जिंदगी पर फिल्म बनाते हैं और सत्यजित राय भी बनाते थे। राय की फिल्मों में पकड़ कितनी गहरी और ईमानदार होती थी और अन्य में कितनी बेईमानी और झूठापन होता है। किसी भी विधा में ईमानदारी और अनुशासन के साथ काम करने से ही कुछ बेहतर हो पाता है।

फोटो-पत्रकारिता की वर्तमान स्थिति के बारे में आप क्या सोचते हैं?

इसकी स्थिति में 1960-70 के अपेक्षाकृत बहुत अधिक सुधार हुआ है। अब अक्सर बड़ी-बड़ी तस्वीर देखने को मिल जाती हैं जो कभी-कभी अच्छी भी होती हैं। अक्सर जिस तरह बाकी तकनीकी हिंदुस्तान में तब आती है जब पश्चिम उसमें कहीं का कहीं निकल चुका होता है उसी तरह फोटोग्राफी में भी दुर्भाग्यवश स्थिति सुधरने के बावजूद हम नहीं कह सकते कि यह अंतर्राष्ट्रीय स्तर की है। पत्र-पत्रिकाओं में ज्यों ही जगह कम पड़ी, संपादक तस्वीर को ही छोटा करने या निकाल फेंकने को तैयार होते हैं। अभी भी वे सोचते हैं कि अखबार या पत्रिका लेखकों के बल पर ही बिकती है। यह सत्य नहीं है। जीवन की भाग-दौड़ में लोगों के पास अब लंबे-लंबे लेखों को पढ़ने का समय कम होता जा रहा है इसलिए अच्छी एवं अर्थपूर्ण तस्वीर उनकी आवश्यकता को कहीं अधिक हद तक कम समय में पूरा करती है। मुश्किल यह है कि फोटोग्राफी को इतना आसान और सादा समझा जाता है कि इस पर एक नजर पड़ी और जान लिया। आखिरकार वह जीवन के क्षण-विशेष के एक रूप का दर्शन है। इसे देखने के लिए दिमाग, शरीर और मन की एकाग्रता एवं पूरी सजगता चाहिए ताकि पूरी तरह समझा जा सके। लेकिन अब तक लोगों को न तो फोटोग्राफ पढ़ना आया है और न ही पढ़ने की आदत बनी है।

फोटोग्राफ को पढ़ने से आपका क्या तात्पर्य है और इसकी आदत कैसे बन सकेगी?

मैं यह नहीं कहता कि सारे फोटोग्राफ्स जो अखबारों या पत्रिकाओं में छपते हैं उतने ही ध्यान देने के लायक होते हैं, लेकिन कुछ-कुछ, कहीं-कहीं, कभी-कभी फोटोग्राफर्स ने ऐसे क्षण कैद किए होते हैं कि जहां पर थोड़ा

रुककर, थोड़ा थमकर ध्यान देने की आवश्यकता होती है। फोटोग्राफी की शुरूआत तो मात्र डेढ़ सौ साल पहले हुई और हमारे देश में तो और भी देर से आई। अब धीरे-धीरे लोग उसके बारे में जान रहे हैं लेकिन पेंटिंग की परंपरा तो सदियों पुरानी है। इसके बावजूद आप थोड़े ही कह सकते हैं कि जो लोग प्रदर्शनी देखने जाते हैं वे पेंटिंग्स को समझते हैं। कला को समझने का मनोविज्ञान वैसा ही है जैसे कोई भी व्यक्ति जब पढ़ाई शुरू करता है तो पहले क ख ग सीखता है। फिर धीरे-धीरे वाक्य बनाना, लिखकर पढ़ना सीखता है। लेकिन जिसे हम महसूस करते हैं उसे लिखकर व्यक्त करने में कितना समय लगता है? उसी तरह पेंटिंग्स को देखना हो या फोटोग्राफ को, इसे देखने और समझने के लिए खुद को प्रशिक्षित करने की जरूरत होती है। वह प्रशिक्षण सालों में होता है। आप अक्सर प्रदर्शनी में जाएं या फोटो पुस्तक देखें तब जाकर धीरे-धीरे आपको पेंटिंग या फोटोग्राफ को पढ़ना आने लगेगा और तब ही इसकी आदत बनेगी।

इलैक्ट्रानिक मीडिया विस्फोट का स्टिल फोटोग्राफी पर क्या प्रभाव पड़ेगा?

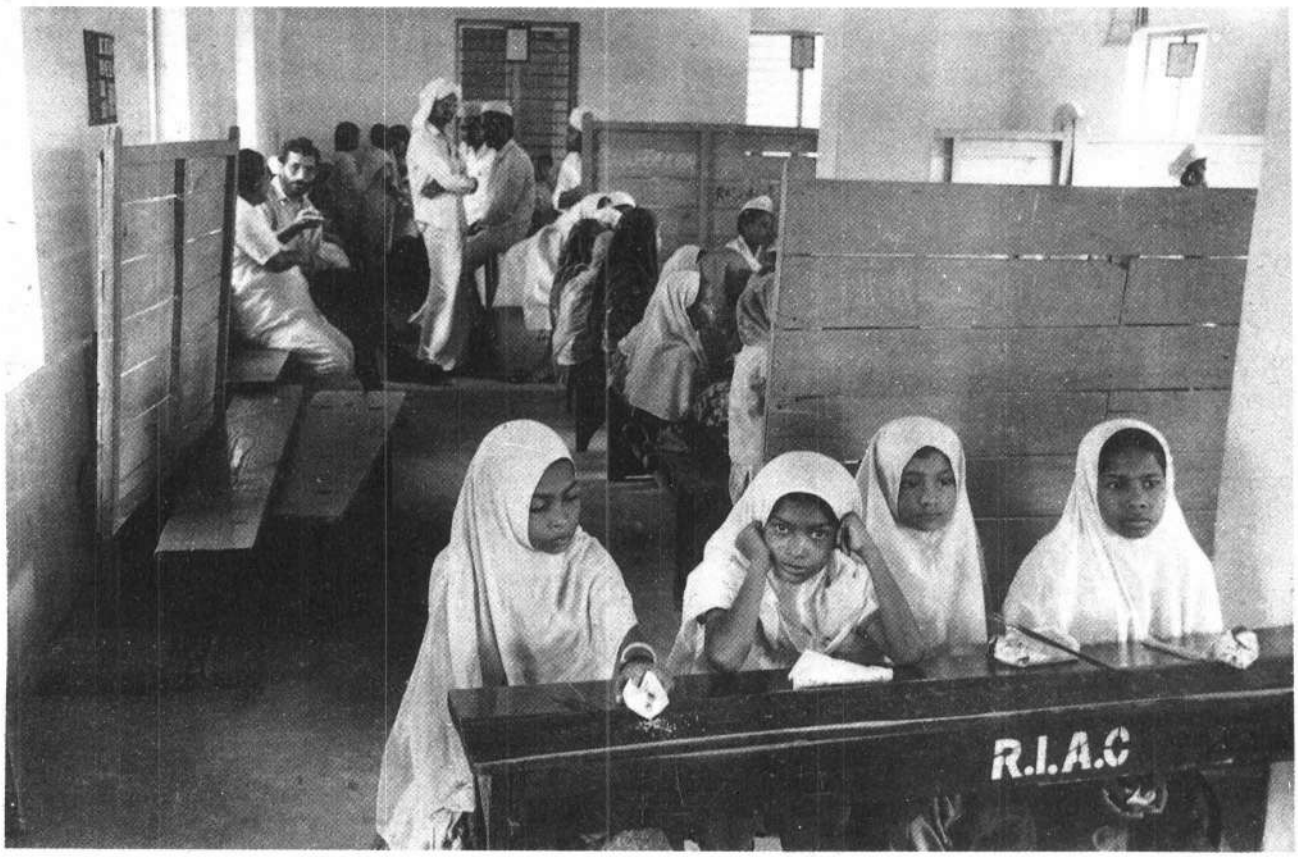
इसमें कोई शक नहीं कि धीरे-धीरे इसमें बदलाव आएंगे लेकिन चाहे इसका स्वरूप बदल जाए, तकनीकी बदल जाए किंतु अनुभवी एवं गंभीर लोग फोटोग्राफी को अपनाए रखेंगे। आज आप कंप्यूटर की मदद से दस तस्वीरों को मिलाकर एक बना सकते हैं, जो एक ही लगेगी और सच भी। लेकिन यह वैसी ही बात है जैसे आप दूरदर्शन के पर्दे पर या कंप्यूटर स्क्रैन पर मार्लिन मुनरो या मधुबाला या कोई भी सुंदर और कमाल की अभिनेत्री को लाकर उससे प्यार नहीं कर सकते, रिश्ता कायम नहीं कर सकते। तकनीकी में जितना बदलाव आ जाए, आप जितना नाटक करते जाएं जिंदगी में मां तो एक ही रहेगी। आप कई जगह खेलते रहें, आपका कोई ख्याल नहीं करेगा लेकिन जब आपको गंभीर होना है तो एक जगह रुकना पड़ेगा। आज आप कंप्यूटर में स्टाइल, माडल और एप्रोच को फीड कर मनचाही संगीत-धुन प्राप्त कर सकते हैं फिर भी वह धुन प्राप्त करना मुश्किल है जिसे हमारे शास्त्रीय संगीत में संगीतकारों ने पिरोया है। इतना उतार-चढ़ाव, इतना नया और अपनेपन का अहसास उसमें कहां? कहने का मतलब यांत्रिक माध्यमों से कहीं अधिक बेहतर, मानवीय प्रवृत्ति के अनुरूप बनाई गई चीजें होंगी। इसलिए मुझे स्टिल फोटोग्राफी पर इलैक्ट्रानिक मीडिया का बहुत अधिक बुरा असर पड़ने की संभावना नहीं दिखती।

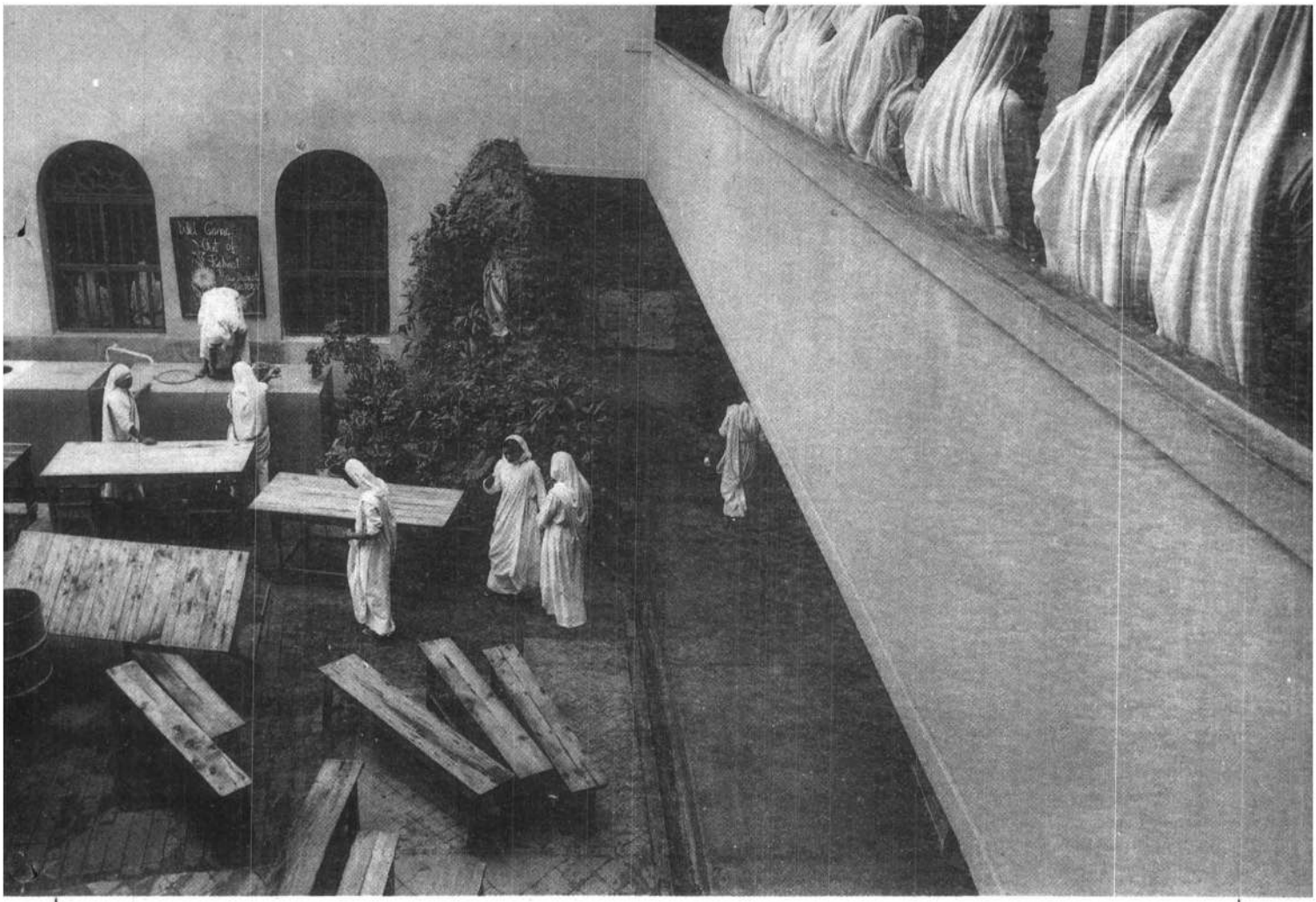
फोटोग्राफी पर आधारित *लाइफ* जैसी पत्रिकाओं के बंद होने के क्या कारण हैं?

एक बात मैं बताऊं—अमरीका दुनिया में काफी बर्बादी लाया है। इस अर्थ में कि उसने 'फास्ट फूड' प्रवृत्ति को विश्व-भर में बढ़ावा दिया है। उसकी हर चीज 'डिस्पाजिबल' है। कैमरे ऐसे बने हैं कि एक फिल्म शूट कीजिए और फेंक दीजिए। गाड़ियां भी ऐसी कि एक दिन चलाकर फेंक दीजिए। यह जो 'फास्ट फूड' प्रवृत्ति जिंदगी में आ गई है इससे नई पीढ़ी में जल्दी परिणाम प्राप्त करने की होड़ लग गई है। वह जल्दी पैसा कमाना चाहती है, प्रसिद्धि पाना चाहती है, आगे बढ़ जाना चाहती है। लेकिन जिंदगी में कला और तपस्या के लिए कोई शार्टकट नहीं है, इसके लिए कोई 'फास्ट फूड' नहीं है। इंसान में आई इस प्रवृत्ति ने मानवीयता को बहुत नुकसान पहुंचाया है। इसलिए हर चीज सस्ती और मिट्टी के भाव है।

लेकिन इसका जवाब नहीं मिला कि ये पत्रिकाएं बंद क्यों हुईं?

हां, इससे हुआ यह कि सामाजिक कारणों पर काम करने वाले जीन स्मिथ जैसे महान फोटोग्राफर के पदचिह्नों पर चलने वालों की लगातार कमी आती गई। वे जो एक विषय पर काम करने के लिए हफ्तों, महीनों जाकर क्षेत्र में बैठ जाते थे, और विषय, परिस्थितियों का सामना करते हुए कई





बार विरोधियों के हमलों को सहन करते हुए विशेष परिणाम के साथ बाहर आते थे। ऐसी तपस्या इस 'फास्ट फूड' पीढ़ी में कौन करेगा? इसलिए गंभीर फोटोग्राफी खात्मे की ओर बढ़ती गई। फलस्वरूप ऐसी पत्रिकाओं को मौत का शिकार होना पड़ा।

किन अखबारों या पत्रिकाओं में फोटोग्राफी को गंभीरता से लिया गया है?

ज्यादातर संपादक-लेखक समझते हैं कि उसी की बदौलत अखबार चलता है। असल में अधिकांश संपादक 'विजुअली इलिट्रेट' (चाक्षुक रूप में अनपढ़) होते हैं। आज के युग में हम हिंदुस्तानियों का दिमाग इतना छोटा हो गया है कि छोटी-सी बात पर खुश हो जाते हैं, ताली बजा देते हैं, वाह-वाह करने लगते हैं। फोटोग्राफर भी अपने ही ढंग की रंग-बिरंगी, सुंदर, मीठी तस्वीरें देकर थोड़ी वाहवाही लूटने लगे हैं और गहराइयां, आगे की यात्रा एवं दर्शन भूल गए हैं। जब लोग रास्ते में ही इधर-उधर भटककर खुश हो जाते हैं। वास्तव में हमारी संस्कृति पर उपभोक्तावाद का जो इतना बड़ा हमला हुआ है इसमें लोग पैसा कमाना भूलकर सिर्फ पैसा लूटना चाहते हैं। हमारे राजनीतिज्ञ और फिल्मकारों ने भी यही संस्कृति परोसी है। कुल मिलाकर हर क्षेत्र की तरह ही फोटोग्राफी में भी गंभीरता समाप्त हो गई है। जागृति नहीं रही, जबकि हर इंसान के लिए जागना जरूरी है।

आपको कोई भी पत्र-पत्रिका ऐसी नहीं दिखती जहां कायदे का काम हो रहा हो?

हर व्यक्ति सोच रहा है कि वह जो कर रहा है वह काफी है। थोड़ा-बहुत कर भी लेता है। लेकिन जहां लगे कि वाह-वाह क्या चीज है, लगे कि लोग जाग रहे हैं, पढ़ रहे हैं, ऐसी नहीं दिखाई देता। सब सोचते हैं— जब सस्ते में काम चल रहा है तो इतनी भाग-दौड़ की क्या आवश्यकता? किसी भी अच्छे अखबार या पत्रिका के लिए अच्छे लेखक एवं फोटोग्राफर के साथ एक स्पष्ट दृष्टिकोण होना आवश्यक है कि हमें किस दिशा में जाना चाहिए। तभी इनमें पूर्णता आती है और आउटलुक भी प्रभावी बन पाता है।

विदेशी अखबारों में कहीं कोई ऐसा काम दिखाई देता है?

न्यूयार्क टाइम्स में ऐसे-ऐसे लोग आते रहते हैं जो कभी-कभी कमाल के फोटोग्राफ दे जाते हैं। *नेशनल ज्योग्राफी* ने आठवें दशक के मध्य में और अब इसके नए संपादक ने पत्रिका को बड़ी मजबूती प्रदान की है। एक जमाने में *स्टर्न* में कमाल की स्टोरी हुआ करती थीं, जो सरकार और सत्ता को बदल देती थीं। विश्वसनीयता तो सबकी घटी है। किंतु दुनिया की कुछ बड़ी पत्रिकाएं एवं अखबार अभी भी अपनी प्रतिष्ठा बनाकर चलते हैं। *न्यूयार्क टाइम्स* का अभी भी बड़ा प्रभाव है। जर्मनी में *स्टर्न* पुनर्वापसी की कोशिश में है। लंदन के *टाइम्स* को भी बेहतर माना जा सकता है। लेकिन इन बड़े अखबारों को भी ऐसे लोगों ने खरीद लिया है जो उनकी सारी परंपरा और व्यक्तित्व को बदल देना चाहते हैं।

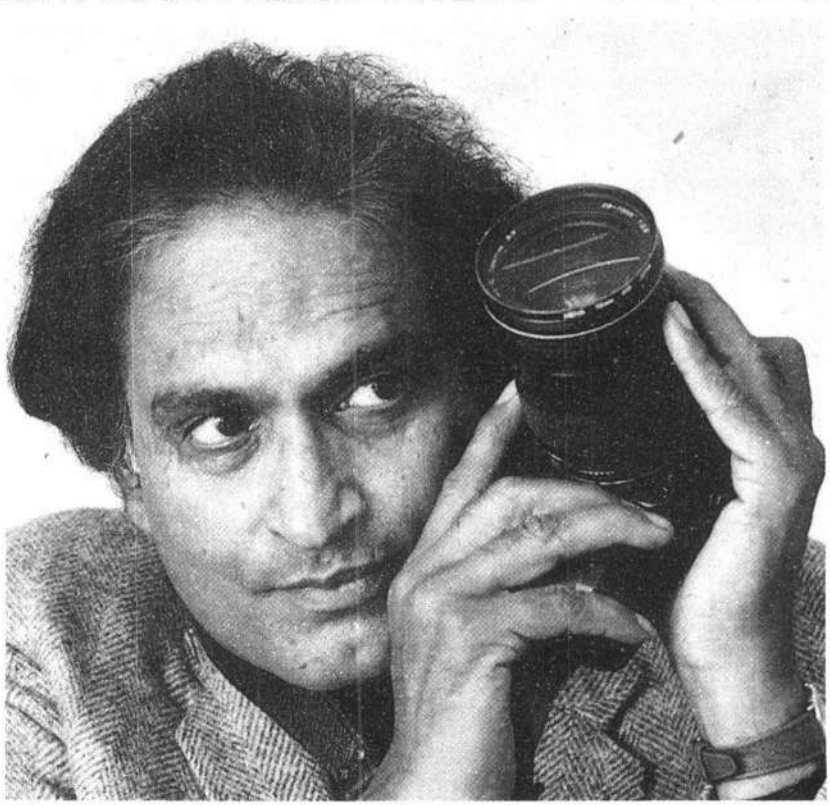
जिस 'फास्ट फूड' पीढ़ी के कुप्रभाव की बात आपने की है उसकी शुरूआत और विस्तार की दृष्टि से स्वाभाविक प्रभाव सबसे अधिक पाश्चात्य देशों में हैं, फिर भी वहीं ऐसे गंभीर काम कैसे संभव हो रहे हैं?

देखिए, वे लोग भोगने वाले हैं। वे भोगी भी हैं और कभी-कभी अपनी

पृष्ठ 59 पर जारी

रघु राय : एक परिचय

विविधता से भरपूर और गंभीर अर्थगर्भी फोटोग्राफी के लिए विश्व-भर में चर्चित रघु राय बिना किसी औपचारिक प्रशिक्षण के ही लगातार ऊंचाइयों को छूते हुए आज उस मुकाम पर पहुंच चुके हैं जहां कोई भी पुरस्कार अब उनके सम्मान में अभिवृद्धि नहीं करता बल्कि स्वयं उपकृत होता है। 18 दिसंबर, 1942 को एक छोटे-से कस्बे झांग (अब पाकिस्तान में) जन्मे रघु को स्वतंत्रता संग्राम की अंतिम लड़ाई का तूफान नजदीक से देखने का मौका मिला और शायद वही उनकी जिंदगी में भी तूफानी गतिशीलता को भर गया। तब शायद ही कोई कल्पना कर सकता था कि इस बालक की आंखों में दुनिया को देखने की ऐसी शक्ति है जो अंततः इसे विश्वविख्यात फोटो-ग्राफर बनाएगी। परिवार वालों की आकांक्षा के अनुरूप उसने हाई स्कूल के पश्चात सिविल इंजीनियरिंग में डिप्लोमा किया और सरकारी नौकरी करने लगा। दो वर्ष किसी तरह पूरे कर युवा रघु ने नौकरी छोड़ दी और फिर 1964 से लेंस के पीछे से आंखें रंग-बिरंगे दृश्यों, घटनाओं एवं स्थितियों को परखने लगीं और वह अंगुलियों की हरकतों से उन्हें कैमरे में कैद करते गए। लोगों ने उनकी प्रतिभा को पहचाना और अगले ही वर्ष उन्हें *हिंदुस्तान टाइम्स* जैसे प्रतिष्ठित अखबार का स्टाफ फोटोग्राफर बनने का मौका मिल गया।

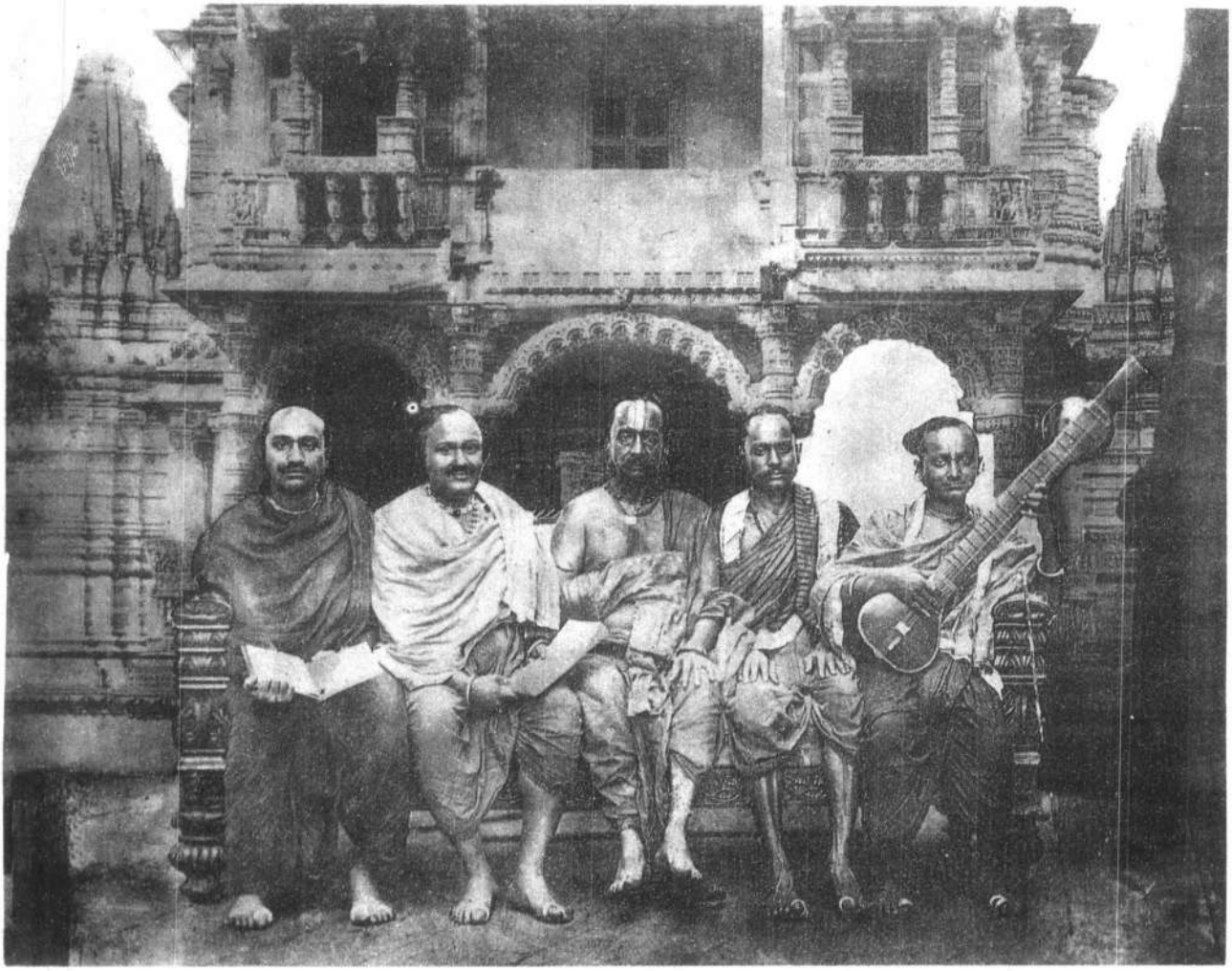


सन 1965 में ही *हिंदुस्तान टाइम्स* छोड़ वह *स्टेट्समैन* के मुख्य फोटोग्राफर बन गए। साथ ही वह लंदन के विश्वप्रसिद्ध अखबार *टाइम्स* के लिए भी भारत की महत्वपूर्ण घटनाओं का कवरेज करने लगे। उनके फोटोग्राफों और पोर्टफोलियो को विश्व-भर में फोटोग्राफी संबंधी प्रतिष्ठित पुस्तकों तथा पत्रिकाओं आदि में जगह मिलने लगी। 1967 से 1980 के बीच *वर्ल्ड प्रेस फोटोज, आफ द इयर*, एमस्टर्डम, *पापुलर फोटोग्राफी, यू एस कैमरा एनुअल*, न्यूयार्क, *फोटोग्राफी आफ द वर्ल्ड*, टोक्यो, *ब्रिटिश जर्नल आफ फोटोग्राफी एनुअल*, लंदन आदि ने रघु राय को प्रकाशित किया। 1977 में वह *स्टेट्समैन* की नौकरी छोड़ अति प्रतिष्ठित विश्व फोटोग्राफरों की सहकारी संस्था मैग्नम फोटोज के भारतीय सदस्य बन गए। आनंद बाजार पत्रिका समूह की पत्रिका *संडे* में ढाई वर्ष तक काम कर 1982 में *इंडिया टुडे* के फोटो संपादक बने जहां सन 1990 तक कार्य करते हुए रघु राय ने सामाजिक अवधारणाओं एवं परिघटनाओं को लेकर कई फोटो फीचर एवं शृंखलाएं कीं। इनमें प्रमुख हैं—द अनवेड मदर्स, द साइकियाट्रिक माइंड, इनसाइड ए मेंटल होम, द वर्ल्ड आफ द ब्लाइंड तथा लेखों की चर्चित शृंखला 'द ग्रेट मास्टर म्यूजिशियंस आफ इंडिया' आदि।

रघु राय के फोटो एवं फोटो फीचर *टाइम, न्यूयार्क टाइम्स, स्टर्न, पेरिस मैच, नेशनल ज्योग्राफी, द संडे टाइम्स, द इंडिपेंडेंट* आदि में प्रकाशित हो चुके हैं। उनकी एकल प्रदर्शनी भारत (दिल्ली, बंबई, कलकत्ता), हैंबर्ग, पराग्वे, न्यूयार्क, सैन फ्रांसिस्को, टोक्यो, क्योटो, पेरिस आदि जगहों पर लगाई जा चुकी है। जापान के टोक्यो एवं क्योटो में निकोन गैलरियों एवं पेरिस के बिबलियोथेक नेशनल में भी तस्वीरें संकलित हैं। पिछले आठ वर्षों में उनकी भारतीय विषयों जैसे मदर टेरेसा, इंदिरा गांधी, सिक्ख, ताजमहल, कलकत्ता, इंडिया, खजुराहो आदि पर कम से कम सात फोटो-पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। क्रियेटिव फोटोग्राफर रघु राय ने राष्ट्रीय राजधानी दिल्ली में लंबे अर्से से रहते हुए इसे जिस रूप में महसूसा है उसकी संरचनात्मक प्रस्तुति अपनी नवीनतम पुस्तक *रघु रायज दिल्ली* में की है।

सन् 1971 में पद्मश्री से सम्मानित रघु राय आजकल मैग्नम परिवार के अंग के रूप में कार्य करते हुए *द मास्टर म्यूजिशियंस आफ इंडिया* एवं *जैनिज्म* नामक पुस्तकों पर कार्यरत हैं। इस तरह रघु राय आज की नई पीढ़ी के फोटोग्राफरों का आदर्श बन चुके हैं।

— श्यामसुंदर सिंह



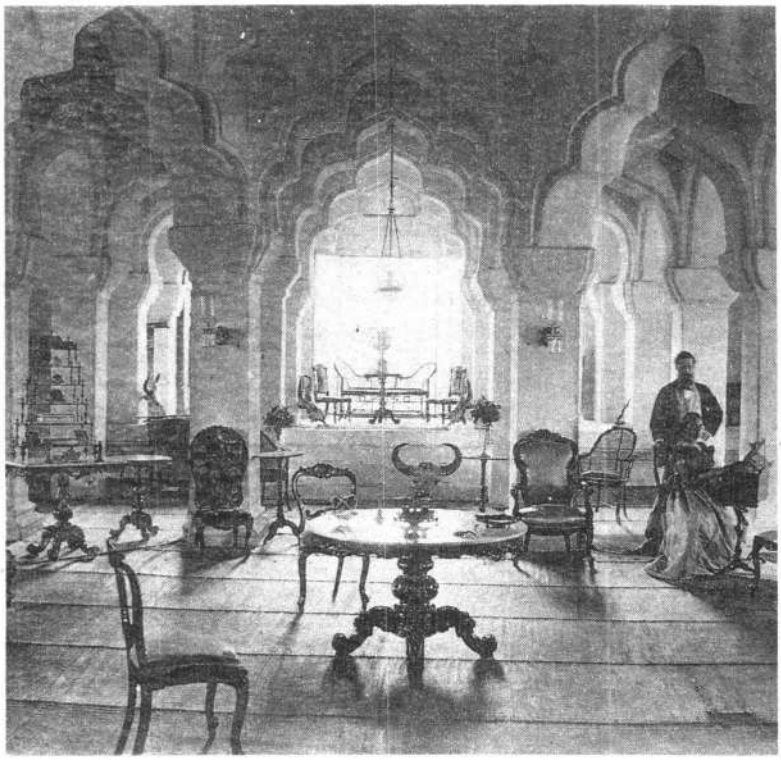
वल्लाभाचार्य महाराज, बंबई, 1863 : नारायण दाजी

पहले पचास साल

उपनिवेशवादी ताकतों के लिए कैमरा दरअसल एक हथियार की हैसियत रखता था। इसके माध्यम से उन्होंने शासक और शासित के भेद को न सिर्फ ज्यादा स्पष्ट ढंग से अंकित किया बल्कि इस अंतर की जड़ें भी मजबूत कीं। भारत में फोटोग्राफी के पहले पचास वर्षों पर आधारित प्रदर्शनी का मूल्यांकन कर रहे हैं **आर. चेतन क्रांति**

आज हमारे लिए यह कल्पना भी करना कठिन है कि डेढ़ सौ साल पहले जब फोटोग्राफी का आविष्कार हुआ होगा तो लोगों की प्रतिक्रिया क्या रही होगी। उससे पहले वस्तुओं,व्यक्तियों और दृश्यों को चित्रित करने का अकेला साधन हाथ ही था जिससे न तो वह सफाई ही संभव थी और न ही वह प्रामाणिकता। चित्रकला या पेंटिंग चाहते हुए भी जीवन और उसके चित्रों को ठीक उसी रूप में चित्रित नहीं कर सकती जिस रूप में वे हमें दिखाई देते हैं। यह उसकी सीमा है जो उसकी विशिष्टता बन जाती है। उसी के चलते वह सामान्य चीजों को एक अलग और बड़ा अर्थ दे पाती है।

फोटोग्राफी चीजों को हू-ब-हू चित्रित कर सकती है। यह उसकी विशिष्टता है जिसको लेकर उसका जन्म हुआ। लेकिन यही उसकी सीमा



तुनकुम (मदुरई) का अंदर का एक दृश्य, 1868 : एडमंड डेविड लियोन

भी है जिसके चलते उसमें कला के लिए गुंजाइश और अन्य अर्थ के लिए स्थान पैदा करना कठिन हो जाता है। फोटोग्राफी यांत्रिक सुनिश्चितता और कलात्मक अनिश्चितता के बीच डोलती हुई विधा है। आज भी उसके लिए पूर्णतया कला के रूप में मान्यता प्राप्त करना शेष है। यही उसकी चुनौती भी है।

लेकिन यह चुनौती उसके वर्तमान की है जब एक बच्चा भी हल्के से एक बटन दबाकर फोटो खींच लेता है। डेढ़ सौ साल पहले यह चमत्कार था। जब बड़े-बड़े भारी कैमरों से धातु की प्लेटों पर एक चित्र काफी कौशल के बाद आ पाता था। भारत में भी फोटोग्राफी की शुरूआत ऐसी ही कठिन तकनीकों से हुई थी। यह कहना कठिन है कि यहां सर्वप्रथम कैमरे का इस्तेमाल कब और कहां हुआ था। उपलब्ध प्रमाणों से सिर्फ इतना पता चलता है कि 1839 में यूरोप में उसके आविष्कार के कुछ ही समय बाद अंग्रेज इस चमत्कार को भारत ले आए थे और राजधानी होने के कारण कलकत्ता फोटोग्राफिक गतिविधियों का पहला केंद्र बना। लेकिन अत्यंत उपयोगी तकनीक होने के कारण उसमें बहुत तेजी से सुधार हुआ और उससे भी ज्यादा अंग्रेजों तथा भारतीय शासकों, सामंतों ने इसे प्रश्रय देकर उतना लोकप्रिय बना दिया था कि मात्र बीस वर्ष के भीतर-भीतर हर बड़े शहर, पर्यटन स्थल और छावनियों में फोटोग्राफिक्स सोसाइटियां बन गईं।

बिना सरकारी प्रोत्साहन के भारत में फोटोग्राफी को उतनी लोकप्रियता शायद नहीं मिल सकती थी। इसके दो कारण थे—एक उसकी तकनीक का एकदम नया और अविकसित होना और दूसरा फोटो खिंचवाने के प्रति आम भारतीयों का सख्त रवैया रखना। लोग सामान्यतया कैमरे को भूत-प्रेत जैसी किसी चीज के रूप में देखते थे और मानते थे कि उनका फोटो खींचकर फोटो खींचने वाला आदमी उनकी आत्मा को अपने वश में कर लेगा। फोटोग्राफर भी आमतौर पर अंग्रेज थे जिन्हें जन साधारण और भी संदेह तथा नफरत से देखता था। लेकिन उन बाधाओं के बावजूद बकौल सेमुएल बूर्ने 1860 के दशक तक कैमरा 'हिमालय की बर्फीली तलहटी से लेकर मद्रास के आग्नेय किनारों तक एक जानी-पहचानी चीज बन चुका था।'

कैमरे की इस लोकप्रियता के पीछे दरअसल उसकी उपयोगिता थी जिसको कंपनी सरकार ने शुरू में ही समझ लिया था। किसी बाहरी शासक के लिए यह कहना कि वह अपने शासित देश के बारे में अधिकाधिक और विश्वसनीय जानकारी चाहेगा ही, कोई दुराग्रह नही हैं। यह स्वाभाविक है। कंपनी शासक भी यह चाहते थे और कैमरा उनके लिए अत्यंत उपयोगी माध्यम साबित हुआ। महत्वपूर्ण घटनाओं, स्थानों, भौगोलिक व सामाजिक स्थितियों, आर्थिक और वाणिज्यिक गतिविधियों तथा पुरातात्विक महत्व की चीजों के विश्वसनीय, सचित्र 'डाक्युमेंटेशन' के लिए उसका प्रयोग कंपनी ने किया। 1850 से 1900 तक की पूरी अवधि में, जिसे भारतीय फोटोग्राफी का आरंभिक चरण माना जाता है, कैमरा एक पराई, खोजी निगाह से भारतीय भूगोल, सभ्यता और संस्कृति , समाज को टटोलता रहा। उसके अनेकों प्रमाण उस काल के फोटोग्राफों में उपलब्ध हैं।

ये फोटोग्राफ आमतौर पर तीन तरह के फोटोग्राफरों द्वारा लिए गए। पहला वर्ग उनमें उनका था जो पहले किसी और धंधे में लगे हुए थे, डाक्टर, इंजीनियर या नक्शानवीस थे। जिन्होंने शौकिया तौर पर फोटोग्राफी शुरू की। उनमें भारत के लाला दीन दयाल के अलावा फ्रेडरिक फीबिग, जॉन मुरे तथा हैरिएट एंड टाइटलर आदि थे। उन्होंने ही फोटोग्राफी में कलात्मक संभावनाएं ढूंढने की भी कोशिश की।

दूसरा वर्ग सैनिक फोटोग्राफरों का था। सरकार ने सेना की अनेक रेजिमेंटों को फोटोग्राफिक साधनों से लैस किया था। ताकि अपने अभियानों के दौरान वे फोटोग्राफी करें। थामस बिग्स, विलियम हैरी पिगु, एडमंड डेविड लियोन आदि को उन फोटोग्राफरों में विशेष स्थान प्राप्त है जिन्होंने किलों, मंदिरों आदि को अंकित किया।

तीसरे वर्ग में व्यावसायिक फोटोग्राफरों को रखा जा सकता है। उनमें सबसे बड़ा नाम सेमुएल बूर्ने का आता है जिन्होंने कलकत्ता में चार्ल्सशेफर्ड से मिलकर एक बड़ी फोटोग्राफिक कंपनी बूर्ने एंड शेफर्ड की नींव डाली जो ब्रिटेन में आज तक व्यवसाय कर रही है। उन अनेक अज्ञात फोटोग्राफरों को भी इसी श्रेणी में गिना जा सकता है जिन्होंने सरकार द्वारा कराई गई फोटोग्राफिक जनगणना के लिए काम किया। उस जनगणना में आए फोटोग्राफों को लंदन स्थित भारतीय कार्यालय के राजनैतिक और गोपनीय विभाग ने आठ जिल्दों में संग्रहीत किया था।

चौथा वर्ग भारतीय फोटोग्राफरों का बनाया जा सकता था, अगर उन्होंने अपने कैमरे को कोई अलग भारतीय आयाम देने का प्रयास किया होता। लेकिन दुर्भाग्य से ऐसा नहीं हुआ। इस अवधि में भारतीय फोटोग्राफरों ने भी ज्यादातर फोटोग्राफी अंग्रेजी मिजाज के अनुकूल ही की। भारतीय फोटोग्राफी के अध्येता गुटमैन के शब्दों में, 'भारतीय फोटोग्राफरों की समूची कार्यशैली अंग्रेजों जैसी ही थी। 'फोटोग्राफिक सोसाइटी आफ बांबे' की स्थापना करने वालों में से एक नारायणदाजी ने समझ-बूझकर ऐसे चित्र लिए जो ब्रिटिश संवेदना को संतुष्ट करते थे। उसी के चलते उनके चित्रों को लंदन में 1871 में हुई अंतर्राष्ट्रीय प्रदर्शनी में स्थान मिला।'

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में अंग्रेजी अभिजात वर्ग का प्रभाव बहुत गहरा हो चुका था जिसके चलते ऐसे-ऐसे चित्र सामने आए जिनमें भारत के संपन्न लोग पश्चिमी वेशभूषा और मुद्राओं में दिखाई दिए। राजपिपला स्टेट के प्रिंस विजय सिंह का एक चित्र उपलब्ध होता है जिसमें वह एक खास पश्चिमी वेशभूषा में खड़े हैं। या फिर राजा दिग्विजय सिंह का चित्र जिसमें वह आधुनिक पश्चिमी पहनावे के साथ एक नक्काशीदार कुर्सी पर अत्यंत शालीन मुद्रा में बैठे दिखाई देते हैं। यह ब्रिटिश प्रभाव था जो भारतीय समाज के उच्च वर्ग में फैलना शुरू हो चुका था। उसके प्रभामंडल से निकल पाना भारतीय फोटोग्राफरों के लिए शायद इसलिए और भी कठिन रहा होगा कि यह तकनीक मूलतः अंग्रेजों की ही थी और इससे संबंधित सभी जानकारियों के लिए वे अंग्रेजी पर ही निर्भर थे। इसी के परिणामस्वरूप वे अपनी कलात्मक दृष्टि को भी अंग्रेजों के प्रभाव से मुक्त नहीं रख सके।

भारतीय फोटोग्राफरों में प्रमुख नाम लाला दीन दयाल का आता है। वह एक प्रशिक्षित नक्शानवीस थे। फोटोग्राफर के रूप में उनको प्रसिद्धि 1876 में मिली जब उन्होंने प्रिंस आफ वेल्स का उनकी भारत यात्रा के दौरान चित्र खींचा। बाद में उनका महत्वपूर्ण काम सर लेपल ग्रिफिन के साथ की गई यात्राओं के दौरान सामने आया। जयपुर के राजा सवाई रामसिंह को उनकी ज्ञान की पिपासा फोटोग्राफी तक खींचकर लाई और बाद में वह भारतीय फोटोग्राफी के इतिहास में पहले व्यक्ति रहे जिन्होंने स्त्रियों के चित्र भी लिए। उसके लिए उन्होंने अलग जनाना स्टूडियो खोला।

इनके अलावा प्रमुख भारतीय फोटोग्राफरों में नारायणदाजी, गणपतराव अभयजी काले, पेस्टोन जी घोसावे व नसीरवानजी आदि पारसी रहे।

कुछ भारतीय फोटोग्राफरों ने शादी, ब्याह और प्रसूति आदि अवसरों के घरेलू चित्र खींचकर भारतीय दृश्यों को उनकी परंपरागत पहचान के फ्रेम में उतारने की कोशिश की। लेकिन फिर भी भारतीयता या देशीपन उस काल की फोटोग्राफी की प्रमुख दृष्टि नहीं थी। बहुत सारे तथ्य अगर हमारे पास उपलब्ध नहीं हैं तो भी यह अनुमान तो सहज ही लगाया जा सकता है कि भारतीय फोटोग्राफरों को अपनी अलग निगाह विकसित करने और उसका उपयोग करने की छूट भी कितनी रही होगी। उस समय के ज्ञात-अज्ञात फोटोग्राफरों के लगभग सभी चित्रों को अंततः कंपनी हस्तगत कर लेती थी और इनका उपयोग भारत को जानने और समझने के लिए किया जाता था। उस समय के हजारों चित्र आज भी लंदन की इंडिया आफिस लायब्रेरी में सुरक्षित रखे हुए हैं।

इन दिनों उनमें से कुछ चित्रों को पुनर्निर्मित रूप में भारत में प्रदर्शित किया जा रहा है। भारत के संस्कृति विभाग और ब्रिटिश उच्चायोग का ब्रिटिश काउंसिल डिवीजन मिलकर यह आयोजन कर रहे हैं। उनको देश के 18 प्रमुख शहरों में प्रदर्शित किया जाएगा जिसकी शुरूआत गत 15 अक्तूबर को दिल्ली की नेशनल गैलरी आफ माडर्न आर्ट से हुई। ये चित्र भारतीय फोटोग्राफी के आरंभिक पचास वर्षों के पूरे चरित्र का प्रतिनिधित्व करते हैं।

तकनीकी कौशल के लिहाज से इन चित्रों को देखने से यह बिल्कुल नहीं लगता कि ये सौ-सवा सौ साल पहले लिए गए थे। नई तकनीकों और रसायनों से उनका पुरानापन धो डाला गया है लेकिन वह 'निगाह' उनमें आज भी जीवित है जो इनको खींचते समय प्रभु और प्रमुख रही होगी। वह निगाह भारतीय नहीं थी, शत-प्रतिशत ब्रिटिश ही थी, यह कहना भी गलत



तंजावूर की सड़क का एक दृश्य। साथ में राजमहल का एक हिस्सा भी नजर आ रहा है, 1869 : सेमुएल बूर्ने



मद्रास जिले में एक कुम्हार की दुकान, 1870 : हूपर व वेस्टर्न

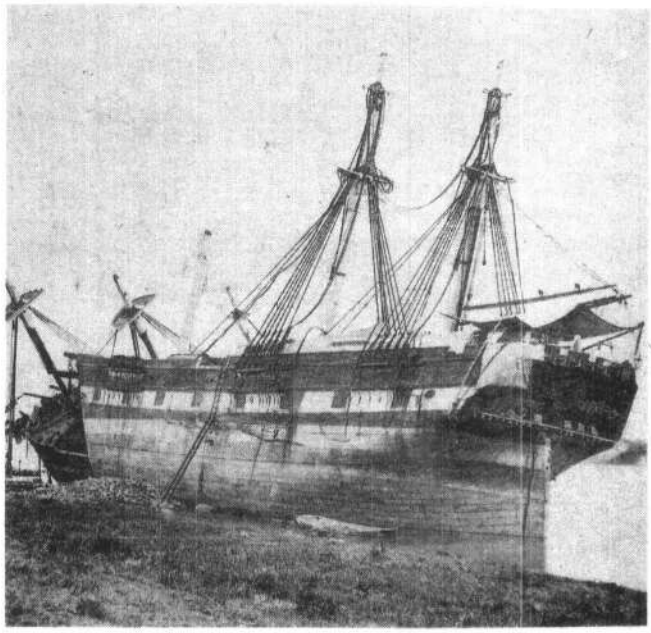
होगा। हां, कोई माध्यम अपनी वस्तुगतता में जितना अपने संचालक की इच्छा से स्वतंत्र हो सकता है, उतना कैमरा भी रहा। बल्कि कुछ ज्यादा ही क्योंकि उसमें कैमरे और उसके सम्मुख दृश्य के बीच उसे संचालित करने वाले की इच्छा कोई हस्तक्षेप नहीं कर सकती। आप सिर्फ उस दृश्य को चुनने तक ही समर्थ हैं, उससे आगे नहीं। और जहां जाकर कैमरामैन असमर्थ हो जाता है आरंभिक भारतीय फोटोग्राफी के उसी हिस्से से तत्कालीन भारत का एक और चेहरा सामने आता है। वह चेहरा सांपों, संतों, रहस्यों, वनों, पहाड़ों और भव्य नक्काशीदार महलों के अलावा है। इन सब खूबियों में तो प्रभु ब्रिटिश निगाह भारत को देखती ही थी और उसे संतुष्ट करने के लिए बाजार और ख्याति के भूखे अनेक फोटोग्राफरों ने अनेक चित्र खींचे भी। प्रदर्शनी में 'ग्रुप आफ फोर इंडियन पोर्ट्रेट्स' (हूपर एंड वेस्टर्न, 1862) 'ग्रुप आफ फोर इंडियन ऐस्सेटिक्स' (निकोलस ब्रदर्स, 1860) तथा अनेक मंदिरों, मूर्तियों और महलों के चित्र इसके उदाहरण हैं।

लेकिन यह भारत का संपूर्ण और असली चेहरा तब भी नहीं था। रोजी-रोटी और कारोबार से लेकर सामाजिक-सांस्कृतिक अभिव्यक्तियों तथा 'पिक्चरस्क' मुद्राओं और दृश्यों की एक अंतहीन और बहुरंगी शृंखला यहां हमेशा रही है। इसका अंकन उन चित्रों में हुआ जो भारत की वाणिज्यिक और सामाजिक संरचना को समझने के लिए बाकायदा सरकारी निर्देश पर खींचे गए। यहां उनमें से 'भाटिया टर्बन फोल्डर्स' (अज्ञात, 1860), 'लेक्यूर वर्कर एंड टूमर' (अज्ञात, 1860), वुक राइटर्स, कश्मीर (अज्ञात, 1890) टी एस्टेट ग्रुप, रानीखेत (जी. डब्ल्यू. लारी एंड कं., 1880) पिंजारीज ओर काटन कार्डर्स,बांबे (विलियम जानसन एंड हेंडरसन 1856), पोटर्स सोप, मद्रास (हूपर एंड वेस्टर्न, 1870) आदि चित्र द्रष्टव्य हैं जिनमें तत्कालीन भारतीय चेहरा अपनी प्रतिरोधी मुद्रा में अंकित है।

गौरतलब यह है कि यह प्रतिरोध बिल्कुल वही नहीं है जो उस दौरान स्वतंत्रता आंदोलनों आदि में व्यक्त हो रहा था। यह पूर्णतया अराजनीतिक, अनांदोलित और असंगठित प्रतिरोध था जो कामकाजी जनसाधारण के भीतर था और जो सिर्फ तभी दिखाई पड़ता था (वे खुद उसे व्यक्त नहीं करते थे) जब वे कैमरे के सामने आते थे—एक हैरानी, एक हठ और डर के रूप में। सेमुएल बूर्ने ने उन चीजों को देखकर कहा था कि 'लोग फोटो-जेनिक मुद्राओं में खड़े होने से ऐसे डरते हैं मानो उनका गला कटने जा रहा हो।'

यह डर सामान्यतया कैमरे में आ जाता था और आज भी यहां देखा जा सकता है। यह उनका पिछड़ापन हो सकता है। लेकिन सभ्यता का ठीक वही माडल जो ईस्ट इंडिया कंपनी उन्हें देना चाहती थी, उनकी सोच-समझ और परंपरागत संवेदना के दायरे से बाहर की चीज था और उसके लिए स्वाभाविक उत्साह या निर्द्वंद्व स्वीकृति उनके लिए कठिन थी। देश की मानव संसाधनों पर आधारित आत्मनिर्भर समाजार्थिक व्यवस्था में मशीन और पूंजी केंद्रित औद्योगिकीकरण की प्रक्रिया शुरू हो चुकी थी जो भारतीय जनसाधारण के परंपरागत सुखी और संतुष्ट जीवन में हस्तक्षेप कर रही थी। उस पर उनको निश्चय ही आपत्ति रही होगी जो अपनी विफलता की पीड़ा के साथ इन चित्रों में अंकित है।

सरकार के लिए फोटोग्राफी का महत्व सिर्फ उसकी सचित्र, विश्वसनीय विवरण देने की क्षमता के कारण था। कंपनी द्वारा कराया गया फोटोग्राफिक सर्वे (द पीपुल्स आफ इंडिया—ए सीरीज आफ फोटोग्राफिक इलस्ट्रेशंस आफ रेसिज एंड ट्राइब्स आफ हिंदुस्तान) इसकी सबसे बड़ी मिसाल है। सैकड़ों चित्रों के इस संग्रह के साथ लिखित सामग्री भी एकत्रित की गई जिसमें वकौल फोटोग्राफर सतीश शर्मा, भारत की जाति-व्यवस्था को एक गतिहीन और स्थायी चीज के रूप में प्रस्तुत किया गया। इस प्रदर्शनी के लिए लिखे अपने परिचयात्मक लेख में वह आगे कहते हैं कि इससे सामाजिक गतिशीलता अवरुद्ध हुई और अंग्रेजों को अपनी 'फूट डालो राज करो' वाली नीति में किसी हद तक सहायता मिली।



कलकत्ता के तूफान के बाद ध्वस्त न्यूयार्क का जहाज 'एम्मगल्डा', 1861 : पीयर्सन व पैटर्सन



कलकत्ता के नजदीक का एक गांव, 1870 : जॉन एडवर्ड सेचे



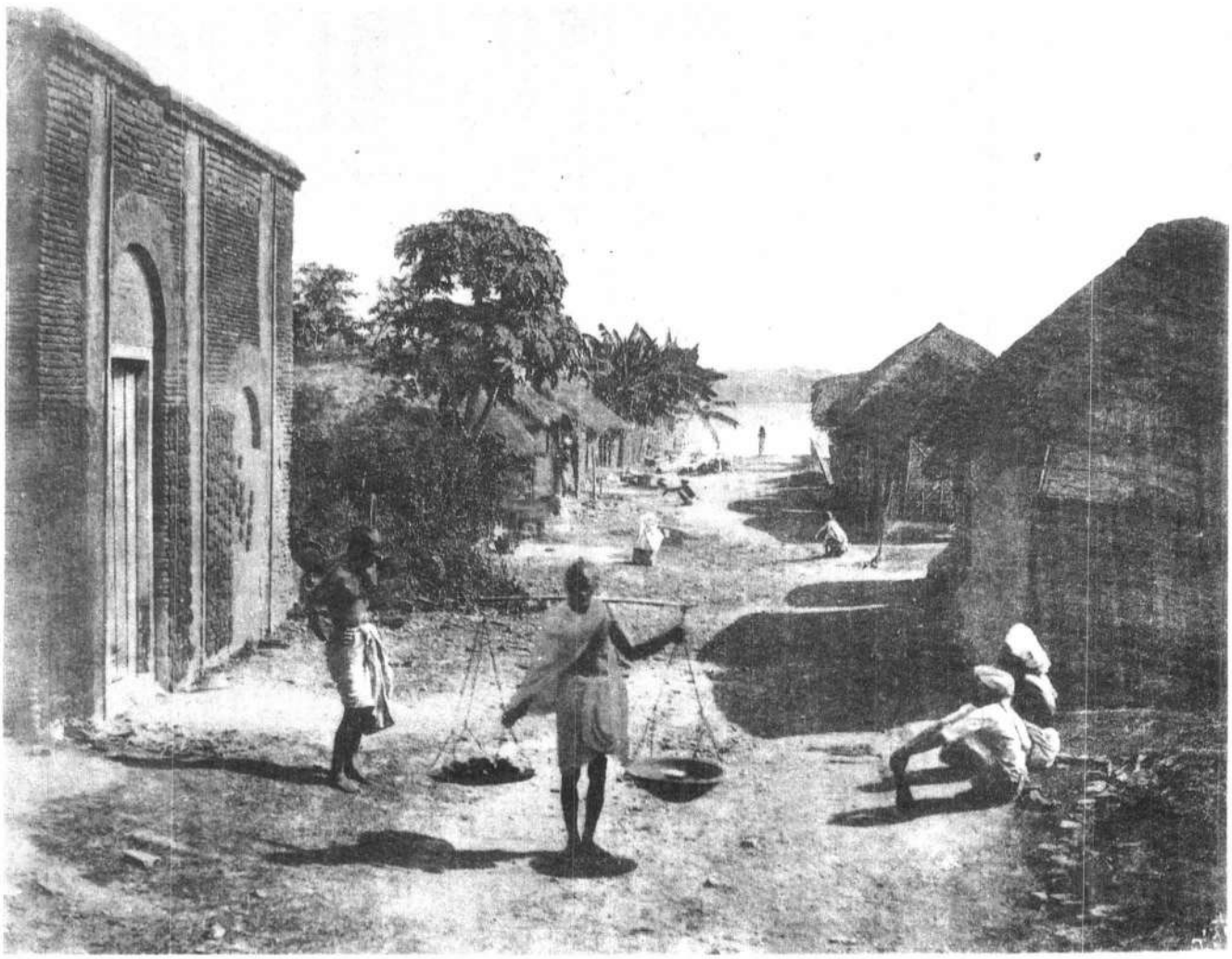
एलेकजेंड्रा नेटिव गर्ल्स स्कूल, बंबई की एक कक्षा, 1873 : अज्ञात फोटोग्राफर

इसी सर्वे की तर्ज पर 1831 में महाराजा जोधपुर ने भी एक फोटोग्राफिक सर्वे कराया। उसके बारे में सतीश शर्मा का कहना है कि यह देशी सर्वे भी अपनी प्रकृति में बिल्कुल वैसा ही था। अर्थात उसमें भी जाति-व्यवस्था तथा अन्य सामाजिक स्तरों को अतिरिक्त जोर के साथ अंकित किया गया। लेकिन यह हम कह सकते हैं कि महाराजा जोधपुर का मकसद ठीक वही नहीं रहा होगा जो अंग्रेजों का अपने सर्वे के पीछे था। प्रदर्शनी में जोधपुर सर्वे के दौरान अज्ञात फोटोग्राफरों द्वारा खींचे गए दो चित्र प्रदर्शित हैं। इनमें से एक में एक श्रीमाली ब्राह्मण को दिखाया गया है, दूसरे में एक मोची को। इन दोनों ही चित्रों में अंकित व्यक्तियों को देखने का ढंग और प्रतिक्रिया ज्यादा मुक्त और आश्वस्त दिखाई देती है। 'द फाइव हिल ट्राइब्स आफ नीलगिरी' (अज्ञात, 1870) या 'निकोबारीज ग्रुप आन नाकोरी' (अज्ञात, 1860) जैसी असहायता उनमें दिखाई नहीं देती।

उपनिवेशवादी ताकतों के लिए कैमरा दरअसल एक हथियार की हैसियत रखता था। उसके माध्यम से उन्होंने शासक और शासित के भेद को न सिर्फ ज्यादा स्पष्ट ढंग से अंकित किया बल्कि उसकी जड़ें भी मजबूत कीं। ऐसे भी कुछ ग्रुप चित्र हैं जिनमें भारतीय जन किसी अंग्रेज के साथ दिखाए गए हैं। इनमें 'मिस्टर हंफ्री, कीपर आफ अंडमान आर्फंस, विद अंडमान ग्रुप (साचे एंड वेस्टफील्ड, 1865) कैप्टेन लेविन एंड लुशाई ग्रुप (अज्ञात,1873) आदि हैं जिनमें इस भेद को गहराई के साथ अंकित किया गया है। भारतीय फोटोग्राफर लाला दीन दयाल का 'ग्रुप एट सर लेपेल ग्रिफिन कैंप एट नौगांव'(1882) इसी कड़ी का चित्र है। इसमें शासकीय अधिकार और श्रेष्ठता-भाव के साथ सर ग्रिफिन और उनके सहयोगी कुर्सियों पर बैठे हैं या साथ में खड़े हैं और पीछे कुछ भारतीय चेहरे उनकी यात्रा में काम वाले हाथियों पर बैठे हैं। ये भारतीय उनके हाथीवान रहे होंगे।

'ए शिफ्टिंग फोकस : फोटोग्राफी इन इंडिया 1850-1900' (भारत में फोटोग्राफी : बदलती दृश्यावली) शीर्षक से जारी इस प्रदर्शनी को सात उपशीर्षकों के तहत वर्गीकृत किया गया है जिनमें सबसे अंतिम 'इंडियन मैट्रोपोलिस'(भारतीय नगर) है। इसके चित्रों में उस आधुनिकता और सामाजिक-आर्थिक परिवर्तनों की छवियां हैं जो उन्नीसवीं शती के उत्तरार्द्ध में यहां आरंभ हो चुके थे। उस आधुनिकता और परिवर्तन की प्रक्रिया की शुरूआत अंग्रेजों की ही पहल पर हुई थी और समाज में बढ़ती इसकी स्वीकृति को उन्होंने उपनिवेशवाद की सफलता के रूप में अंकित किया। उन चित्रों में एक 'क्लास इन द अलेक्जेंड्रा नेटिव स्कूल, बांबे (1873)' भी है जिसमें भारतीय लड़कियां अपनी परंपरागत वेशभूषा में एक खूबसूरत नक्काशीदार स्टैंड वाले ग्लोब से शायद दुनिया की बनावट का अध्ययन कर रही हैं। या फिर शायद दुनिया के सिर्फ उसी खास हिस्से का जहां, जैसा कि कहा जाता था, सूरज कभी नहीं डूबता था।

भारत में यह सूरज उस समय अपने उच्चतम बिंदु पर चमक रहा था जब फोटोग्राफी यहां घुटनों के बल चल रही थी। इसमें कोई आश्चर्य नहीं है कि इसीलिए कैमरे की निगाह का केंद्र वह सूरज ही रहा और उसने उसी के इशारों पर उसी के लिए काम किया। ब्रिटिश काउंसिल दिल्ली में सांस्कृतिक प्रकार्यों के मंत्री कोलिन परचार्ड भी इससे सहमत ही दिखाई देते हैं लेकिन उनका कहना है कि आज बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में सौ साल पहले के उन स्मृति लेखों को हमें अलग नजर से देखना चाहिए। ❑



चंदनगढ़ की एक सड़क, 1851 : फेंड्रिक फिविग

तथ्य और लालित्य

यद्यपि फोटोग्राफी मूलतः तथ्यों के डाक्यूमेंटेशन का काम करती है इस पर भी वह एक कला-माध्यम के रूप में सम्मानित है। भारत में फोटोग्राफी पर दिल्ली में हुई दो दिन की गोष्ठी पर **श्रीप्रकाश भगत** *की रिपोर्ट।*

भारतीय समाज में तेजी से आ रहे बदलाव को लेकर भारतीय फोटोग्राफी काफी सजग है। पिछले दशकों में विभिन्न मुद्दों को लेकर खींचे गए फोटोग्राफ इसका सार्थक संकेत देते हैं। हालांकि कई नए, पुराने फोटोग्राफरों की शिकायत है कि जिस रफ्तार से फोटोग्राफी की तकनीक और उसके सृजनात्मक आयामों में परिवर्तन हो रहे हैं उसी तरह इस फोटोग्राफी का संरक्षित तथा विकसित करने की सांस्थापिक कोशिश नहीं हो पा रही है। इन्हीं सवालों के मद्देनजर पिछले दिनों ललित कला अकादमी में फोटोग्राफी पर एक विचार गोष्ठी का आयोजन किया गया जिसमें देश-विदेश के कई फोटोग्राफी विशेषज्ञों तथा छायाकारों ने हिस्सा लिया। 16 से 17 अक्तूबर तक चली इस गोष्ठी में विभिन्न रुझानों तथा विचारों वाले 12 भारतीय तथा पांच ब्रिटिश वक्ताओं ने एक मंच पर आकर अपने अनुभवों की साझेदारी की।

पहले दिन विचार गोष्ठी की शुरूआत 'ऐतिहासिक फोटोग्राफी' से हुई जिसकी अध्यक्षता यूरोप की कई फोटोग्राफी गैलरियों में काम कर चुके कला के इतिहास और सिद्धांत के अध्येता माइकल जोसफ जाट ने की। बाट बाथ (यू.के.) की एफ. स्टाप गैलरी के निदेशक हैं। 'ऐतिहासिक फोटोग्राफी' के इस सत्र में वक्ता थे—जान फॉकनर तथा नियति शिंदे।

दक्षिण तथा दक्षिण-पूर्व एशिया की फोटोग्राफी की खास जानकारी रखने

वाले जान फॉकनर ने 19वीं शताब्दी की फोटोग्राफी पर कई किताबें तथा लेख लिखे हैं। '19वीं शताब्दी की भारतीय फोटोग्राफी—संदर्भ तथा अर्थ' पर दिए गए अपने वक्तव्य के दौरान फॉकनर ने कहा कि खंडहर होती इमारतों के 19वीं शताब्दी में खींचे गए अधिकतर फोटोग्राफ काफी महत्वपूर्ण हैं जिनका सौंदर्य उनसे मिलने वाली सूचनाएं नहीं बल्कि ब्रिटिश भारत के दौर के वे संदर्भ हैं जब वे खींचे गए थे। ये फोटोग्राफ उस दौर की जातीय तथा सांस्कृतिक पृष्ठभूमि को बखूबी दिखाते हैं। ये फोटोग्राफ भारतीय व्यवसायों तथा कारीगरों के जीवन को भी दिखाते हैं जिनसे भारत के विभिन्न शहरों के फोटोग्राफ के भारतीय रूप का अध्ययन किया जा सकता है। 1865 में ली गईं अंडमान की तस्वीरों को दिखाते हुए फॉकनर ने इन फोटोग्राफ की तकनीक पर भी चर्चा की। फॉकनर पिछले तीन वर्ष से ब्रिटिश लायब्रेरी के इंडिया आफिस फोटोग्राफ संग्रह पर शोध तथा इन फोटोग्राफों को सूचीबद्ध कर रहे हैं।

'ऐतिहासिक फोटोग्राफी' पर बोलने वाली दूसरी वक्ता थीं बंबई की विड़ला सेंचुरी आर्ट अकादमी से जुड़ी नियति शिंदे। लाला दीन दयाल की फोटोग्राफी पर विस्तृत अध्ययन के दौरान नियति शिंदे ने भारत में इस माध्यम के विकास के संदर्भ में कुछ दिलचस्प जानकारियां हासिल की हैं। 'भारतीय फोटोग्राफी का प्रारंभिक दौरः सृष्टि तथा व्याख्याएं' पर केंद्रित अपने लंबे वक्तव्य में नियति शिंदे ने कहा कि सृष्टि तथ्यों को बदल देती है। औपनिवेशिक काल में भी लाला दीन दयाल जैसे फोटोग्राफर थे जिन्होंने औपनिवेशिक, संस्कृति तथा तकनीक के दबाव से मुक्त रह कर काम किया। दरअसल फोटोग्राफी की आवश्यक सामग्री के अभाव में भी भारतीय फोटोग्राफर सिर्फ अपने व्यवसाय के लिए ही फोटोग्राफी के प्रति समर्पित रहे जिससे भारतीय फोटोग्राफी में एक खास किस्म का प्रकृतिवाद दिखाई देता है। इसी प्रकृतिवाद के कारण भारतीय फोटोग्राफी यूरोपीय फोटोग्राफी से अलग दीखती है। सन् 1872 से 1905 तक के कालखंड का जिक्र करते हुए नियति शिंदे बताती हैं कि उस दौर में लाला दीन दयाल सरीखे लोग बहुत कम थे जिन्होंने औरतों को फोटोग्राफी का विषय बनाया।

विचारगोष्ठी का दूसरा सत्र था—'डाक्यूमेंटरी फोटोग्राफी'। इस सत्र के अध्यक्ष थे दृश्य संचार के विशेषज्ञ पार्थिव शाह। गोष्ठी में हिस्सा लिया ज्योति भट्ट, सलीम आरिफ तथा एन. त्यागराजन ने। 'ग्रामीण भारत में लोक तथा आदिवासी कलाओं की जीवित परंपराओं' पर बोलते हुए वरिष्ठ फोटोग्राफर ज्योति भट्ट ने बताया कि वह सर्जनात्मक कला की उतनी चिंता नहीं करते जितनी यथार्थ के डाक्यूमेंटेशन के प्रति उस लगाव की जो उन्हें फोटोग्राफी से जोड़ती है। 'स्टिल फोटोग्राफी' की चर्चा करते हुए भट्ट ने 80 वर्षीय फोटोग्राफर प्राण लाल मेहता का जिक्र किया जिन्होंने राजस्थान तथा गुजरात के जीवन के यथार्थ को अपने साधारण लेकिन अर्थपूर्ण फोटोग्राफों के जरिए संजोया है। उन्होंने अपने वक्तव्य में किशोर पारेख तथा मेरी एलन मार्क सरीखे फोटोग्राफरों की चर्चा करते हुए इनके स्लाइड दिखाए।

इस सत्र के दूसरे वक्ता थे लंदन में रह रहे कलाकार तथा फोटोग्राफर सलीम आरिफ। आरिफ ने इस साल की शुरूआत में इंग्लैंड में महात्मा गांधी पर केंद्रित एक अनोखी फोटो प्रदर्शनी का आयोजन किया। उस प्रदर्शनी में महात्मा गांधी की दिनचर्याओं की तस्वीरें थीं जो उनके भतीजे कनु गांधी



राजनगर का संगमरमर का घाट, 1873 : कॉलिन मुरे



सर लेपेल ग्रिफिन के नौगांव में लगे कैंप का एक ग्रुप फोटोग्राफ, 1882 : लाला दीन दयाल

ने खींची थीं। फोटोग्राफर सलीम आरिफ ने अपने विषय 'क्यूरेटिंग कनु गांधीज महात्माः ए फोटोग्राफिक एग्जीबिशन' पर बोलते हुए बताया कि 1938-46 के दौरान की ये तस्वीरें महात्मा गांधी को समझने में काफी सहायक हैं और ऐतिहासिक दस्तावेज बन चुकी हैं। आरिफ ने बताया कि कनु गांधी ने ये फोटोग्राफ बिना फ्लैश का इस्तेमाल किए ही लिए हैं क्योंकि महात्मा गांधी को फ्लैश की चमक से परहेज था।

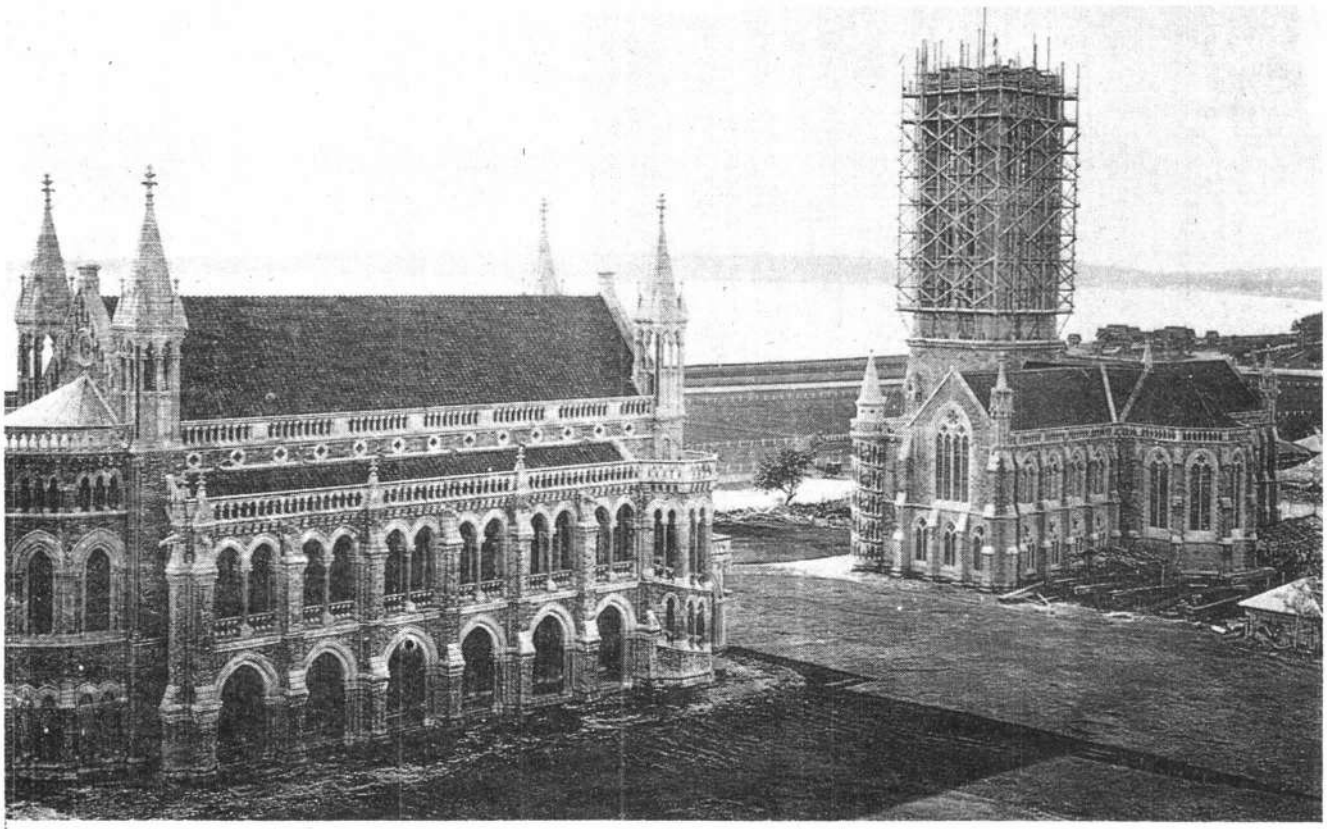
'डाक्यूमेंटरी फोटोग्राफी' सत्र के तीसरे वक्ता थे वरिष्ठ फोटोग्राफर एन. त्यागराजन। 'फोटो पत्रकारिता : उत्तरदायित्व की राजनीति' विषय पर बोलते हुए 1954 से फोटो-पत्रकारिता से जुड़े फोटोग्राफर एन. त्यागराजन ने कहा कि पत्रकार झूठ बोल सकता है पर फोटो पत्रकार नहीं, क्योंकि कैमरा कभी झूठ नहीं बोलता। अपने अनुभवों का जिक्र करते हुए त्यागराजन ने वर्तमान दौर में एक फोटो पत्रकार की भूमिका को काफी महत्वपूर्ण बताया।

'व्यापारिक फोटोग्राफी' सत्र की अध्यक्षता अविनाश पसरीचा ने की।

न्यूयार्क तथा नई दिल्ली में बतौर वास्तुशिल्पिक (आर्किटेक्चरल) फोटोग्राफर के रूप में कार्यरत ग्राफिक डिजाइन में मास्टर आफ फाइन आर्ट्स राम रहमान ने अपने अमरीकी अनुभवों के आधार पर अपने विषय 'एक दृष्टिकोण : कला सृजन तथा जीवन यापन' पर चर्चा की जिसमें उन्होंने फोटोग्राफी में अपनाई जा रही नई तकनीकों तथा बदलते परिवेश में फोटोग्राफी की कलात्मक जटिलताओं के चित्रण तथा उसके पेशेवर स्वरूप को रेखांकित किया। दूसरी वक्ता थीं साहित्य और समाजशास्त्र की अध्येता राधिका सिंह जिन्होंने आठ वर्षों के दौरान एक सफल फोटो एजेंसी को व्यवस्थित किया है। यह एजेंसी फोटोग्राफी के बाजार का व्यवसायीकरण करेगी तथा दुनिया भर में भारतीय फोटोग्राफी प्रोजेक्ट को प्रायोजित तथा संयोजित करेगी। 'फोटो लाइब्रेरीज एंड स्टाक एजेंसीजः इश्यूज आफ कापीराइट एंड कंट्रोल' (फोटो संग्रहालय तथा फोटो उपलब्ध करवाने वाली एजेंसियां : कापीराइट तथा अधिकार के सवाल) विषय पर चर्चा के दौरान राधिका सिंह ने फोटोग्राफी से जुड़ी विभिन्न किस्म की व्यवस्थापकीय तथा सलाहकार एजेंसी संबंधी जरूरतों पर जोर दिया तथा इसके लिए हर तरफ से बातचीत जारी करना जरूरी बताया।

विचारगोष्ठी का दूसरा दिन भी दो सत्रों में बंटा था—पहला समकालीन फोटोग्राफी तथा दूसरा वीमेंस फोटोग्राफी। समकालीन फोटोग्राफी की अध्यक्षता शंकर बरुआ ने की।

लंदन के ब्रिटिश काउंसिल के दृश्य कलाओं की प्रदर्शनी प्रमुख ब्रेट रोजर्स ने 'कंस्ट्रक्टेड फोटोग्राफी इन ब्रिटेन' पर अपनी बात कहते हुए कहा कि फोटो झूठ नहीं बोलते और फोटोग्राफी यथार्थ को समझने के लिए एक ईमानदार माध्यम है। रोजर्स फोटोग्राफी के बारे में मानती हैं कि ये फोटोग्राफ लिए जाने की जगह बनाए जाने चाहिएं। 'कंस्ट्रक्टिव मोड आफ फोटोग्राफी' तथा 'डाक्यूमेंटरी फोटोग्राफी' की चर्चा करते हुए ब्रेट रोजर्स ने पिछले दशक के छह चुनिंदा फोटोग्राफरों के फोटोग्राफ दिखाए जो दर्द और खुशी तथा पदार्थ और चेतना के प्रतीक के तौर पर उभरते हैं। ब्रेट रोजर्स ने अंतरिक्ष संबंधी कुछ फोटोग्राफ दिखाए जिनमें 'मैन्स प्लेस इन द यूनिवर्स' (1983) तथा 'एक्सप्लोरिंग द यूनिवर्स' (1985) को अद्भुत चित्रों की श्रेणी में रखा



बंबई विश्वविद्यालय का निर्माणाधीन रवाजाई घंटाघर, 1870 : अज्ञात फोटोग्राफर

जा सकता है, जो एक साथ कई-कई रहस्यों को खोलते हैं। 1982-1994 तक लगभग 40 ब्रिटिश फोटोग्राफिक प्रदर्शनियां कर चुकी ब्रेट रोजर्स ने अपने स्लाइड प्रदर्शन के दौरान कई अच्छे लैंडस्केप भी दिखाए।

1970 से विक्टोरिया एंड अलबर्ट म्यूजियम में कार्यरत तथा 1977 से फोटोग्राफ डिवीजन के क्यूरेटर मार्क आवर्थ वूथ ने संग्रहालय तथा फोटो संग्रह संबंधी अपने अनुभवों को सुनाते हुए कहा कि भारतीय इमारतों के क्षेत्र में अभी काफी कम काम हुआ है। वूथ ने विल ब्रांट तथा जान मरे के ताजमहल की चर्चा की। खास तौर पर जान मरे के ताजमहल की। वूथ ने 'फोटोग्राफी नाउ' शीर्षक से एक किताब भी लिखी है।

देश-विदेश में कई प्रदर्शनियां दिखा चुके फोटोग्राफर संजीव सेठ ने अपने लंबे वक्तव्य में फोटोग्राफी से जुड़े कई बिंदुओं को रेखांकित किया। संजीव सेठ के लिए फोटोग्राफी अपनी पहचान की तलाश है। हिमालय के जनजीवन के लगातार अध्ययन तथा पर्वतारोहण के शौक के दौरान संजीव सेठ ने फोटोग्राफी को एक सर्जनात्मक माध्यम के तौर पर अपनाया।

संजीव मानते हैं कि फोटोग्राफी एक बेहद खर्चीला माध्यम है और देश में स्तरीय फिल्म सामग्री तथा क्वालिटी पेपर का अभाव है। उनका कहना था कि पांच साल पहले तक तो देश में कोई गैलरी ही नहीं थी जो फोटोग्राफों को दिखलाती। फोटोग्राफी के सही समर्थन में न तो कोई अखबार है न ही कोई पत्रिका। फोटो पत्रकारिता के पिछले 50-60 सालों के इतिहास में भी फोटोग्राफी की कोई खास तरक्की नहीं हुई। फाइन आर्ट्स के लिए स्कूल कालेज तो हैं पर फोटोग्राफी के लिए कोई क्लास नहीं। फोटोग्राफी पर संजीव सेठ की पहली किताब 1990 में आ चुकी है।

वीमेंस फोटोग्राफी की अध्यक्षता अमित पराशर ने की।

1981 से लंदन में बतौर क्यूरेटर कार्यरत तथा लेखिका वाल विलियम्स ने कहा कि औरतें अपने नारी होने के कारण फोटोग्राफी में ऐसा कुछ विशेष काम कर सकती हैं जो पुरुष नहीं कर सकते। प्रथम तथा दूसरे विश्वयुद्ध के पहले तथा बाद में ली गई तस्वीरों का जिक्र करते हुए विलियम्स ने फोटोग्राफी के इतिहास में महिला फोटोग्राफरों की भूमिका पर सार्थक बातचीत की। *गार्जियन, इंडिपेंडेंट* तथा *वीमेंस आर्ट* जैसे पत्र-पत्रिकाओं में वाल विलियम्स ने कई लेख लिखे हैं तथा औरतों द्वारा की गई फोटोग्राफी पर कई किताबें भी।

इस सत्र की दूसरी वक्ता थीं शीवा चाची। महिला आंदोलनों में सक्रिय शीवा चाची ने अपने अनुभवों की चर्चा करते हुए बताया कि महिलाओं की जिंदगी में बहुत तेजी से बदलाव आ रहे हैं लेकिन इन बदलावों के प्रति फोटोग्राफी बहुत कम जागरूक है। उन्होंने महिला आंदोलन में शामिल गुजरात की एक सब्जी बेचने वाली का नमूना पेश करते हुए कहा कि अब वह वीडियो कैमरा भी चला रही हैं। शीवा चाची मानती हैं कि महानगरों में 'स्टिल कैमरा' की जगह वीडियो कैमरा के इस्तेमाल में तेजी आई है। फोटोग्राफी के प्रति प्रतिष्ठानों के नकारात्मक रवैये की चर्चा करते हुए उन्होंने कहा कि होमी जहांगीर जैसी फोटोग्राफर को नेहरू युग से संबंधित अपने सारे निगेटिव्स जला देने पड़े थे क्योंकि उनके पास उन निगेटिव्स के रख-रखाव की कोई सुविधा नहीं थी।

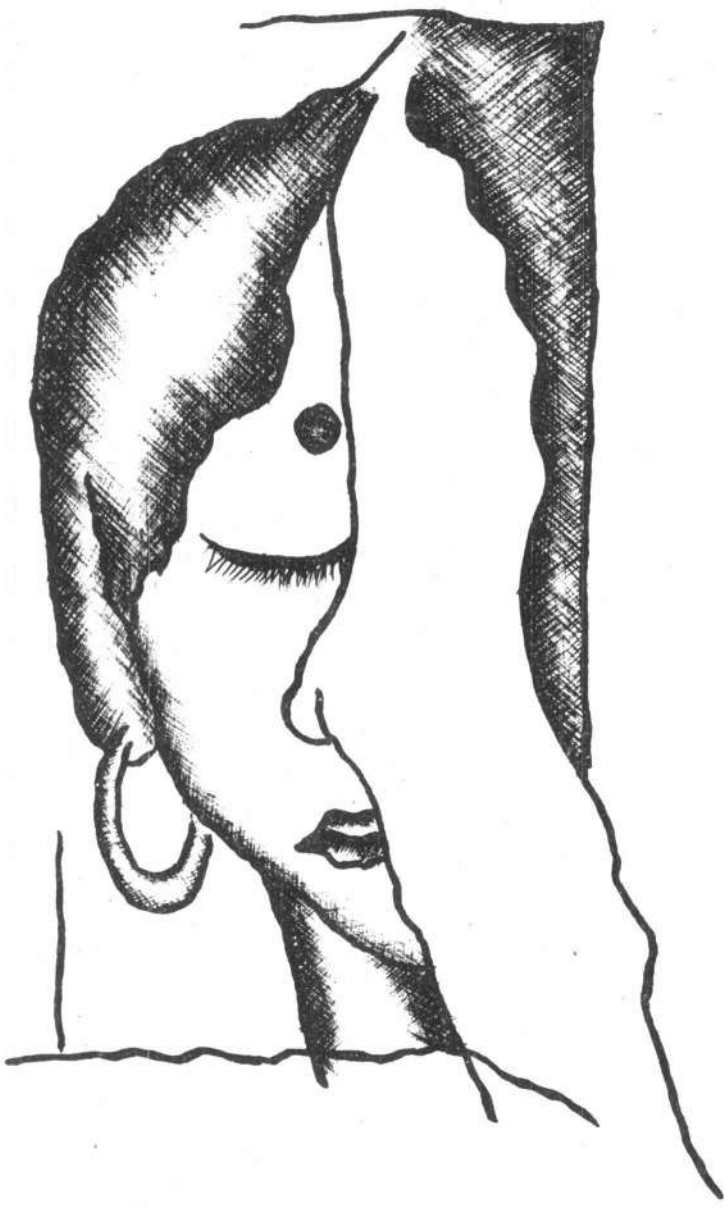
सेमिनार के दौरान बातचीत में हिस्सा ले रहे एक श्रोता ने हस्तक्षेप किया कि 1850-1900 के औपनिवेशिक कालखंड में लिए गए फोटोग्राफ में भारतीय विद्रोह के दौर की स्थितियों को दर्शाता कोई फोटोग्राफ क्यों नहीं है। इस संदर्भ में चित्रकार विवान सुंदरम ने भी हस्तक्षेप किया। लेकिन कुछ देर हुई इस चर्चा में कोई सार्थक जवाब नहीं निकल पाया। ❑

कहानी

चुटकी भर लाल रंग

नीलम कुलश्रेष्ठ

रेखांकन : दिलीप कुमार शर्मा



यह दृश्य देखकर मेरा कलेजा मुंह को आ गया या कहिए कि कलेजा मुंह को आना क्या होता है—मैंने पहली बार जाना। अस्पताल के प्राइवेट वार्ड में जोशी जी लेटे हुए हैं छत को खाली आंखों से टुकुर-टुकुर निहारते। उनके एक हाथ में ड्रिप लगी हुई है। पलंग के पास ही स्टूल पर श्रीमती जोशी बैठी हुई हैं। पास के सोफे पर उनकी खैर-खबर लेने आए पटेल दंपति बैठे हैं। शन्नो पलंग के पायताने दीवार की तरफ मुंह किए बैठी है। उसका सिर इस बुरी तरह झुका है जैसे गर्दन पर मानो अपराध का बोझ लदा हो। इतने दिनों में उसके चेहरे का लावण्य-धुल-पुंछ गया है। रंग धुंधला गया है। जी में आता है, दौड़कर उसके पास जाऊं और झिंझोड़कर पूछूं, "शन्नो, तू क्यों सिर झुकाए बैठी है? तूने किया ही क्या है? किस शर्म से जमीन में गड़ी जा रही है?"

मैं पैरों को जबर्दस्ती घसीटती हुई अंदर दाखिल होती हूं।

"आंटी नमस्ते!"

मैं चौंकती हूं। जोशी जी के सिरहाने की तरफ खड़ी है बन्नो जो कभी सांवली-सी मरियल लड़की हुआ करती थी। अब कौन कहेगा कि यह वही लड़की है! पांच ही महीने में सारा शरीर भर गया है। चेहरा तो ऐसा लग रहा है जैसे किसी ने गुलाल मल दिया हो। क्या औरत की सिर्फ एक ही पहचान होती है.... माथे पर गोल बिंदी व मांग में जगमगाता सिंदूर! बाकी तो सिर्फ जीने का बहाना मात्र है!

शन्नो भी तो उसी रात उसी मंडप में ब्याही गई थी लेकिन वह उजड़ी हुई, अपने में छिपी सहमी कोने में बैठी है। मेरे सोफे पर बैठते ही उसने एक उचटती निगाह से मुझको नमस्ते की। उस एक छोटी-सी निगाह से ऐसा लग रहा है कि वह मुझे देखकर तीखे दर्द से कराह उठी हो। उसकी दम घोंटती-सी सांसों का बोझ मेरे सीने में फैलता जा रहा है। मन होता है मैं उसे अपनी छाती में भींचकर रो उठूं। वह तो क्या हल्की होगी, मैं जरूर हल्की हो जाऊंगी। पटेल दंपति के कारण मैं चुप ही बैठी रहती हूं। कहीं खो गई है वह मासूम शन्नो जो आंखों में ढेर-सी खुशियां छलकाए मुस्कुराते हुए चेहरे से मेरे पास आती थी। वह सिर के ऊपर दुपट्टे को अपने कुर्ते के कंधों पर फैलाकर बालों को जान-बूझकर अपने गालों पर छितरा लेती व कमरे में कमर लचकाती ठुमक-ठुमककर चलने लगती। ऐसे में उसकी पायल खनकती रहती छन-छन। वह जोर से चिल्लाती, "लगती हूं न नंबर वन माडल?"

"तू तो नंबर वन माडल ही भगवान ने पैदा की है।" मैं गद्‌गद हो उसका दुपट्टा पकड़ती।

वह नाज से दुपट्टा छुड़ाकर ठुनकती, "छोड़ दो आंचल, जमाना क्या कहेगा?"

"तू हमेशा फिल्मी मूड में ही रहती है?"

"यह फिल्मी मूड नहीं, इस दुपट्टे जैसा सतरंगी मूड है।"

वह ठुमकते-ठुमकते अपनी चाल पर ब्रेक लगा देती, "अरे! बाप रे! मैं गैस पर दूध चढ़ा कर आई थी।" पीछे उसकी बौखलाहट पर मैं हंसती रह जाती।

बन्नो से वह खूबसूरत थी, उसका जहीन पारदर्शी व्यक्तित्व मुझे बहुत अच्छा लगता था। मैंने उसे कभी भी उदास होते हुए नहीं देखा था। अपनी मां के पेट में होने वाले आपरेशनों में हर बार वही हर काम में आगे रहती थी। बन्नो के तो हाथ-पैर फूल जाते थे। शन्नो ही बन्नो को समझा-बुझाकर काम करवाती थी। मोपेड दौड़ाती कभी अस्पताल एक खाना पहुंचाती कभी दूसरी। मैं अपनी खिड़की में खड़ी तेज रफ्तार से उन्हें मोपेड पर जाते देखती तो सोचती, जमाना कितना बदल गया है! जींस शर्ट व छोटे बालों में उन्हें दूर से आता देखकर कौन कह सकता है कि वह लड़की है या लड़का! मुझे तो लगता था कि इस भागदौड़ में अपनी प्रथम श्रेणी खो बैठेगी, लेकिन जीव-विज्ञान में उसके कमाल के नंबर आते थे। अलबत्ता बन्नो जरूर लुढ़कते-लुढ़कते बची थी।

कैसी होती हैं लड़कियां, हंसती, चहचहाती मां-बाप के घर की फुनगियों पर फुदकती उनकी लाडली बुलबुलें! सिर्फ एक पुरुष के उनके जीवन में पदार्पण से उसकी दी हुई प्रतिष्ठा जैसे माथे पर लिख जाती है। श्रीमती पटेल शन्नो से पूछती हैं, "बी.जी नहीं आए?"

शन्नो की मम्मी बीच में जल्दी से कह देती हैं, "उन्हें छुट्टी नहीं मिली।"

"यह अच्छा है, बन्नो की लोकल शादी कर दी। वह एक्सीडेंट के बाद एकदम आकर खड़ी हो गई वर्ना आपको बड़ी मुश्किल होती।"

पटेल दंपति को तो पता ही नहीं होगा कि शन्नो को बी.जी. के पास बंबई से आए एक महीना हो गया है। बेचारी एक महीने से मुंह छिपाए दादा जी के यहीं पड़ी हुई है, एक चोर की तरह। उसकी मम्मी-डैडी व हम लोग शोक मनाते बिल्कुल जड़ हुए जा रहे हैं। मृत्यु का तो कोई सब्र भी कर ले लेकिन शन्नो जिन कांटों से गुजरकर आई है वह सीधे हमारे सीने में धंसते रहते हैं।

पहले जोशी जी के घर जो भी आता, चंचल-चपल शन्नो को पूछता घर में घुसता आता था। बन्नो अजीब-सी हीन भावना से घबराई अपने कमरे में घुसी रहती थी। शन्नो मेरे पास आकर बड़बड़ाती थी, "आंटी, बन्नो को कितना भी समझाओ, किसी के सामने बाहर नहीं आती। अपने कमरे में किताब खोले कहीं और खोई रहती है फिर फेल हो जाती है। मैं तो कहती हूं, बी.ए. करते ही इसकी शादी कर देनी चाहिए।"

"और तू? तू क्या शादी नहीं करेगी?"

"क्यों नहीं? अभी कर लूं? कोई अच्छा-सा लड़का आपकी नजर में हो तो बताइए।" वह मेरी आंखों में आंखें डालकर शरारत से मुस्कुरा देती।

"तुझे शर्म नहीं आ रही! अपने लिए लड़का ढूंढ रही है?"

"आंटी! अब आप स्लो मोशन मूवी जैसी हो गईं! जमाना आज फास्ट फूड तक पहुंच चुका है।"

"तेरे से जीतना तो मुश्किल है।"

मैं बहाना बनाकर उठती तो वह लपककर मेरा हाथ पकड़ लेती, "लड़का ढूंढने अभी कहां चल दीं? पहले मैं रिसर्च करूंगी फिर शादी।"

आज वही शन्नो अस्पताल के वार्ड में हम सबसे मुंह फेर दीवार की तरफ मुंह किए बैठी है। बन्नो तत्परता से अपनी चूड़ियां खनकाती मां को कभी नेपकिन थमा रही है कभी मौसमी का जूस निकालकर दे रही है। शन्नो के बेलौस ठहाके, उसकी पायल की छम-छम जैसे मेरे कानों में कहीं दूर की गुफा में गूंजते-से सुनाई दे रहे हैं। श्री व श्रीमती पटेल उठते हैं। मैं भी उनके साथ उठ लेती हूं। मुझे पता है, मैं रुकूंगी तो अपना रोना नहीं रोक पाऊंगी। मैं रोऊंगी तो शन्नो भी रोएगी, उसकी मां भी रोएगी। जोशी जी के जख्म पट्टी के नीचे तरल हो उठेंगे।

घर आकर पस्त पड़ जाती हूं। शेखर को बताती हूं, "पता है शन्नो आ गई है।

"अच्छा, कैसी है वह?"

"बहुत दुबली हो गई है, बिल्कुल बदल गई है।"

"पता नहीं, कहां फंस गई बेचारी!"

मैं निढाल बेमन से रात का खाना बनाती हूं। शन्नो की सूरत मेरी पलकों से हट नहीं पा रही। बाद में एक किताब पढ़ने की कोशिश करती हूं। उसके पृष्ठों में मन नहीं गुम हो पाता। हर पृष्ठ पर एक जोड़ा आंखों की उदासी बिखरी हुई है। बड़ी मुश्किल से नींद आती है। लगता है, कोई दरवाजा लगातार खटका रहा है। मैं उनींदी-सी दरवाजा खोलती हूं और चौंक जाती हूं।

"शन्नो? तुम?"

"हां, आंटी। सॉरी। आपको इस समय परेशान किया। आज कालेज में हम फाइनल वालों को फेयरवेल दे रहे हैं।"

"तो उन्हें जाकर फेयरवेल दो, मेरी नींद क्यों खराब कर रही हो? रात में किसी ने सोने नहीं दिया, अब तुम जान खाने आ गईं!"

"मम्मी बाजार गई हैं। मेरी समझ में नहीं आ रहा, इस साड़ी के साथ काला ब्लाउज पहनूं कि ये हरा! ये हरे रंग का ब्लाउज साड़ी से मैच नहीं कर रहा।"

"इतनी-सी बात पूछने के लिए तूने मेरी नींद खराब की?" मैं झुंझला उठती हूं।

"आप दोपहर को रोज सोती हैं। क्या हमारे कालेज में पार्टी रोज-रोज होती है?" वह अधिकार से पलंग पर जमकर बैठ जाती है। उसके इस धांसू अधिकार पर मैं मुस्कुरा देती हूं। "वाकई यह हरा शेड साड़ी से मैच नहीं कर रहा। यह काला ब्लाउज ही पहन लेना। अब यहां से दफा हो जा।"

"आपसे यह किसने कह दिया कि मैं जाने वाली हूं? आप ही मुझे साड़ी पहनाएंगी। मैं साड़ी पहली बार पहनकर बाहर जा रही हूं। जरा पिन अप ठीक से कर दीजिए। कहीं वह खिसक न जाए और....." फिर वही खिलखिलाहट।

साड़ी पहनकर वह गुड़िया-सी लगने लगती है। उसे अपना हरे रंग का हैदराबादी जड़ाऊ सैट पहनाकर मैं हाथ जोड़कर कहती हूं, "बाबा! अब तो जा।" उसे बाहर निकालकर मैं लपककर दरवाजा बंद करती हूं। जल्दी में मेरी उंगली दरवाजे के बीच में आ जाती है। घबराकर मेरी नींद खुल जाती है। कमरे में अंधेरा गहराया हुआ है। कहीं भी तो नहीं है हरी साड़ी में गुड़िया-सी सजी पार्टी में जाती शन्नो। मेरे इर्द-गिर्द अंधेरे में घिरी एक जोड़ा आंखें भर हैं।

पहले तो वह जरा-सी बात पर उबल पड़ती थी। उसे लगता था कि उसके आसपास जो भी उल्टा-सीधा घटित हो रहा है उसे वह ठीक करके ही छोड़ेगी। उस रक्षाबंधन के दिन जैसे ही उसने सुना, काशी बेन की तीसरी बेटी भी सुसराल से पिटकर वापस आ गई है, वह दनदनाती सुबह दस बजे हमारे घर में घुस आई थी, बरामदे में रखी डायनिंग चेयर खिसकाकर मेज पर अपनी दोनों कोहनी टिकाए हथेली पर अपनी ढोड़ी रख किसी जज की तरह अकड़कर बैठ गई थी। बड़े अधिकार से उसने काशी बेन को रसोई से बाहर आने को

कहा था।

काशी बेन कुछ भी न समझती-सी साड़ी के आंचल से हाथ पोंछती बाहर निकल आई थी—"बेन सु छे।"

"मैंने तुम्हें कितनी बार समझाया था कि अपनी लड़कियों को स्कूल में दाखिल कर दो। गुजरात सरकार ने लड़कियों की फीस माफ कर दी है। काश कुंता पढ़ी-लिखी होती तो ससुराल में कैसे उसे कोई मार सकता था? अब तुम्हारी तरह बर्तन मलेगी।"

काशी बेन बेवक्त की डांट से सकपका गई थी। अपने आंसू आंचल से पोंछती कह उठी थी, "बेन, लड़कियों का भाग्य पहले से कौन कहां जान पाता है?"

"पहले तुम विधवा हो गई? बाद में तुम्हारी दो बेटियां ससुराल से मार खाकर तुम्हारे यहीं आ गईं तब भी भाग्य की बात करती हो? मैं तुम्हें कितना समझाती थी कि उसे पढ़ाओ लेकिन हर बार तुम यही कहती थीं, उसे नौकरी थोड़े ही करनी है। चूल्हा ही तो फूंकना है तो क्यों टैम खराब करे!"

शन्नो ने ही पढ़-लिखकर कौन-सा तीर मार लिया? वह भी एम.एस.सी. में गोल्ड मेडल लेकर? एम.एस.सी. के बाद उसकी रिसर्च की इच्छा रखी की रखी रह गई थी। बस, जैसा कि होता है, सपनों का राजकुमार सामने आकर खड़ा हो जाता है। हर लड़की अपनी सुधबुध भूल जाती है। तब उसने अपने दादा को घर से लौटकर लाल होते हुए बताया था, उसके लिए बहुत-सी सुंदर लड़कियों के आफर थे लेकिन उसने मुझे ही चुना। उसे पांच बजे आना था लेकिन वह चार बजे ही आ गया। मैं तो साथ वाले कमरे में बाल खोले बड़े जोर-जोर से शोर मचा रही थी कि जरी की साड़ी नहीं पहनूंगी तभी उसने देख लिया था।

"मतलब, जनाब तभी फ्लैट हो गए थे?"

"बुरी तरह! घर पहुंचते ही उसने 'हां' कर दी थी!"

"मतलब, उसके मां-बाप, भाई-बहन साथ में तुम्हें देखने नहीं आए थे?"

"नहीं, उन्होंने सब उसके ऊपर छोड़ रखा है।"

मैं शन्नो की मां को क्या समझाती कि शन्नो की शादी की इतनी जल्दबाजी न करें क्योंकि वह तो सगाई करके ही लौटी थीं। बहुत गद्‌गद होकर उन्होंने बताया था। जैसा लड़का हमें चाहिए था, उससे अच्छा लड़का हमें मिल गया। "बंबई में क्लास वन आफिसर है। हम बड़े किस्मत वाले हैं जो शन्नो पहली बार में ही पसंद कर ली गई।"

"किस्मत वाले तो वे हैं जो शन्नो को ले जा रहे हैं।"

बाद में सगाई की रंगत जैसे उसके चहरे पर उतर आई थी। किसी से जुड़ने पर जैसे कि नारी एक लचीली टहनी में बदल जाती है, वैसी ही खुशी से उसका पोर-पोर लहक रहा था। हल्की खुमार भरी आंखें खोई-खोई-सी हो उठी थीं। उसकी उंगली में हर समय सगाई की अंगूठी जगमगाती रहती थी।

कुछ दिनों बाद ही वी.जी. उनके घर में आ धमका था। लंबा-तड़ंगा। दोनों रात को पेड़ों की कतारों से घिरी सड़क पर जब टहलने निकलते तो उनकी लंबी जोड़ी देखते ही बनती थी। उसे लेकर वह शर्माई-सकुचाई-सी हमारे घर भी आई थी। सारा ध्यान उसका अपनी साड़ी संभालने में ही था। वी.जी. की मिठास भरी बातचीत, उसकी विश्लेषण भरी बातें सुनकर मैं हैरान रह गई थी। उसने बहुत मीठे स्वर में उलाहना दिया था, "आंटी, शन्नो कहती है, शादी के बाद पति-पत्नी का बराबर अधिकार होना चाहिए, लेकिन मैं कहता हूं कि पत्नी को थोड़ा झुककर पति व उसके घर वालों के साथ व्यवहार करना चाहिए।"

उसके इस पुरुष अहं ने मेरा मन हल्का-सा आहत किया था। मेरे बस में भी होता तो मैं भी यही कहती कि पति-पत्नी दांपत्य में बराबर के हिस्सेदार हैं किंतु सच बात यह है कि स्त्री पुरुष के अहं से जीत नहीं सकती। सफल दांपत्य का रहस्य यही है कि पत्नी कुछ झुककर चले।

शन्नो झुंझलाकर बीच में बोल पड़ी थी, "क्या आप राय देंगी कि हर गलत बात के सामने भी वह झुक जाए?"

"ऐसा तो कभी नहीं करना।"

इन्होंने बीच में चुटकी ली, "शुरू-शुरू में तो ऐसा भी कर लेना। बाद में तो वी.जी. का हमारा जैसा ही हाल हो जाने वाला है।"

इनकी बात पर सब हंस पड़े थे। मैं बहुत संतुष्ट हो उठी थी कि शन्नो को भी उसके जैसा परिपक्व मस्तिष्क वाला सुलझा हुआ पति मिल रहा था।

"आप लोगों की शादी की क्या तारीख तय हुई है?"

"आप लोग कहें तो हम लोग अभी शादी तय कर लें।" उसने मीठी नजरों से शन्नो को देखते हुए कहा था। उसकी इस नजर से शन्नो की रंगत गुलाबी हो उठी थी। फिर वी.जी. ही बोले थे, "बस, बन्नो की शादी तय होने का इंतजार हो रहा है। इनके मम्मी-डैडी दोनों बहनों की शादी एक साथ करना चाह रहे हैं।"

उन दोनों के जाने के बाद मैं बहुत खुश थी। मेज पर से जूठे प्याले ट्रे में लगाते हुए बोली, "शन्नो कितनी 'लकी' है! बहुत सुलझा हुआ पति मिल रहा है।"

ये गंभीर हो उठे थे, "कोटेड रंग वाले कभी-कभी बेहद खतरनाक निकलते हैं।"

"आप तो हर बात में बुरी बात ही ढूंढने की कोशिश करते हैं। क्या कमी है वी.जी में?" मैं झुंझला उठी थी।

इत्तफाक से बन्नो के लिए हमारे शहर में ही लड़का मिल गया था। शादी के बाद दोनों बहनें आम पर आई बौर जैसी महक उठी थीं। दोनों का फाइनल बाकी थी। बन्नो तो बी.ए. फाइनल की परीक्षा भूल-भालकर पति के घर चली गई थी। मैं शन्नो को पकड़कर पूछती थी, "तेरा पढ़ाई में मन कैसे लगता होगा?"

वह शर्माकर कहती, "मैंने तो वी.जी से कितना मना किया था कि फाइनल परीक्षा के बाद ही शादी की तारीख रखना लेकिन उसने बेशर्म होकर साफ-साफ कह दिया था कि अब सब्र नहीं होता।"

परीक्षा के बाद तैयारी शुरू हुई थी शन्नो की विदाई थी। उसकी मम्मी रोज बाजार के चक्कर लगाने चल देती थीं। जो कमी शादी में रह गई थी वह ही अब पूरी कर रही थीं। शन्नो झल्लाती, "मम्मी। क्या वी.जी. कंगला है या बंबई में ये चीजें नहीं मिलेंगी।"

"अभी तू गृहस्थी का मतलब समझती नहीं है। बंबई जाकर एकदम कहां सामान खरीदने निकल पड़ेगी?"

वी.जी. को छुट्टी नहीं मिली थी। शन्नो के डैडी ही उसे बंबई छोड़ने गए थे। एक महीने बाद पता लगा कि शन्नो बंबई से कुछ दिनों के लिए आई हुई है। मैं उसके हालचाल लेने, बीती हुई रातों के किस्से सुनने फौरन भागी थी, उसके घर। दरवाजा उसकी मां ने खोला था—उतरे हुए, उजड़े हुए स्याह मुंह से। मैंने अधिक ध्यान नहीं दिया, "शन्नो कहां है?"

वह भरे स्वर में बोली थीं, "अंदर वाले कमरे में है।"

मैं अंदर वाले कमरे में उत्साह से जैसे ही गई, सामने वाला दृश्य मुझे जड़ कर देने के लिए काफी था। पलंग पर तकिए को दीवार से लगाए उस पर अपना पीठ ठिकाए शन्नो बैठी थी। बिखरे हुए बाल, रोता चेहरा। नीचे का होठ व एक गाल सूजा हुआ था। दूसरे गाल पर एक लंबा नाखून का निशान बना हुआ था।

मैं घबराकर उसके पास दौड़ती चली गई।

"शन्नो, यह क्या हालत बना रखी है?"

उसने खाली-खाली नजरों से मुझे देखा और अपने घुटनों में मुंह छिपाकर रोने लगी। उसकी मम्मी भी पलंग पर आकर बैठ गई। मैं समझ नहीं पा रही थी, उड़ती, हंसती-खिलखिलाती चिड़िया के पर नोच उसे जमीन पर किसने पटक दिया है! मैं इतना भर पूछ पाई, "शन्नो, क्या हुआ?"

उसकी मम्मी मेरे पास बैठ सिसकने लगी, "हमारी तो तकदीर फूट गई।"

"लेकिन हुआ क्या", उन दोनों की हालत देखकर मेरी भी आंखें डबडबा आई थीं।

"वी.जी ने इसे पहली रात से ही मारना शुरू कर दिया था।"

"लेकिन इसने पहले कुछ भी नहीं बताया।"

"हमें यही लगता था कि शादी से बहुत खुश है।"

"हां, तब कुछ नहीं बताया। ये बंबई छोड़ने गए थे तब वह इनके साथ बुरा व्यवहार करता रहा। मेरी बेटी ने तीन रात बाहर उसकी सीढ़ियों पर ही गुजारी हैं। जब सहा नहीं गया तो वहां से भागकर ये घर चली आई।"

"वह तो पढ़ा-लिखा है फिर कैसे.....!"

"हमने शादी में इतना दिया है फिर भी वह खुश नहीं है।"

"मैं मान ही नहीं सकती कि वह शादी के लेन-देन के लिए इसको तंग कर रहा है। कोई भी आदमी पहली रात को ही कैसे पत्नी को मारना शुरू कर सकता है?"

"पता नहीं, क्या बात है? शन्नो ने बंबई में स्टेशन पर ही इनसे भरे गले से कहा था कि वी. जी. का व्यवहार बड़ा 'एबनार्मल' है लेकिन वह कैसे भी उसके साथ 'एडजस्ट' कर लेगी। जब इसकी हिम्मत जवाब दे गई तो उस नरक से मकान मालिक की मदद से भाग आई है।"

आज सोचती हूं, सारे समय मुस्कुराती होशियार-सी लड़की की किस्मत में वही नीच आदमी लिखा था? नियति कहां से ढूंढकर उसे बांध गई थी शन्नो से सिर्फ तीन महीने के लिए? उसका चेहरा देखा नहीं जाता था। स्याई पड़ी हुई आंखें, क्षोभ से झुकी हुई गर्दन। सिर्फ एक पुरुष के नाम से तीन महीने मांग में सिंदूर भर जाने के लिए? पुरुष भी कैसा! बहशियाना क्रोध में पागल हो जाने वाला! शन्नो की समस्या का कोई हल नहीं नजर आ रहा था। उससे दादा जी व चाचा ने पुलिस में रिपोर्ट करने से मना कर दिया था। शन्नो को उन्होंने अपने पास बुला लिया था।

जोशी जी अस्पताल से घर आ गए हैं। इधर-उधर आस-पड़ोस में कानाफूसी शुरू हो गई है कि अब शन्नो यहां क्या कर रही है? बाप के एक्सीडेंट को तो एक महीना बीत गया। शन्नो भी भेदती निगाहों से बची-सी घूमती है। वह बिल्कुल टूट चुकी है। कहीं भी कुछ करने की इच्छा शेष नहीं रही है।

एक दिन सहमते दबे स्वर में उसकी मां ने उससे कहा, "शन्नो! रिसर्च करना चाह रही थी। कब शुरू कर रही है?"

"मुझे अब कुछ नहीं करना। सब कुछ खत्म हो गया है। मैं अपने खत्म होने का इंतजार कर रही हूं।" वह चीखती-तड़पती जोर से रोने लगी।

"जिदंगी एक ठोकर से खत्म तो नहीं हो जाती।"

"लेकिन मेरी जिंदगी खत्म हो चुकी है। इतना अपमान सहकर मैं तभी क्यों नहीं मर गई, आज भी नहीं समझ पाती।"

शन्नो गिरती-पड़ती, घिसटती लाश की तरह जी रही है। घर वालों का दिल रखने के लिए दो निवाले मुंह में किसी तरह डाल लेती है। सारा समय पलंग पर करवट लिए लेटी रहती है या फिर अपने कमरे में खिड़की की सलाखें पकड़े आसमान पर टंगे काले बादलों को बुझी आंखों से देखती रहती है। सबकी बातें उस पर बेहद धीरे असर करती हैं। उसने शोध करने का निर्णय ले लिया है।

मैं इतने दिनों तक उससे अकेले में मिलने की हिम्मत नहीं जुटा पाई हूं। एक दिन वह स्वयं ही मेरे दरवाजे पर उजड़ी हुई आंखें लिए दर्द की तस्वीर-सी खड़ी हो जाती है। मैं बाल छितराकर सतरंगी चुन्नी लहराकर, नजाकत से चलने वाली शन्नो को ढूंढने लगती हूं। कहां खो गई है वह?

वह बड़े सहमे-से स्वर में पूछती है, "आंटी! आऊं? आप सो तो नहीं रहीं?"

"अरे कैसी बात करती है! अंदर आ जा।"

वह सहमी-सिकुड़ी सोफे पर बैठ जाती है। मैं जान-बूझकर उसे शोध की बातों में, जोशी जी की बीमारी की बातों में उलझाए हुए हूं। उसकी कराहती-सी आंखें बीच-बीच में मुझसे शिकायत कर रही हैं। मैंने जो झेला है, उसके बारे में आप पूछने तक की हिम्मत नहीं कर पा रहीं?

वह अनमनी-सी मेरी बातें सुन रही है। अचानक वह तैश में आकर मुझसे पूछती है, "आंटी, एक बात का आप साफ-साफ जवाब दीजिए। आप मेरे इस तरह से बंबई से भाग आने को जस्टीफाई करेंगी या नहीं?"

"बिल्कुल करूंगी। तुम तो बहादुर हो जो इतना सही कदम उठाया। तुम्हारी मम्मी को भी, जिन्होंने तुम्हें वापस नहीं भेजा।"

"तो लोग ऐसा क्यों नहीं मानते," कहते हुए वह फफक पड़ती है, "मैं जब दादा के घर थी तो सब मुझे वहां महसूस कराते रहते थे कि हमारे खानदान में अब तक किसी लड़की ने हमारी नाक नहीं कटाई! जैसी जिसको ससुराल मिली वह वहीं की होकर रही।"

"तेरी चाची तो बहुत अच्छी हैं।"

"वह भी घुमा-फिराकर यही जताती रहती थीं कि उनकी लड़कियों की शादी कैसे होगी? उन्हें शायद तब उतनी तकलीफ नहीं होती जब सुनतीं कि शन्नो कैरोसीन डालकर आग लगाकर जल कर मर गई है या जला दी गई है। वहां नरक की आग में झुलसने के बजाय मेरे जीने की कोशिश करने से लोगों को तकलीफ हो रही है!"

"शन्नो! वह मौत तो एक कायर की मौत होती। तुमने बहुत अच्छा किया जो भाग आईं।"

"आप समझती हैं, भागने का निर्णय मैंने क्या एकदम ले लिया था? तीन बार वी.जी. ने मेरी पिटाई करके घर से बारह निकाल दिया। मैं तीनों रात सीढ़ियों पर पड़ी रोती रही। मकान मालिक के परिवार ने मुझे अपने घर सुलाया। उन लोगों के बहुत कहने पर मैंने दो बार ऊपर जाकर वी.जी. से माफी मांगी जबकि मेरा कोई कसूर नहीं था। तीसरी बार.....।" बात पूरी करने से पहले ही वह फिर सिसक उठी है।

"तेरी ये बातें बाद में सुनूंगी। मेरा दिल दहल रहा है।"

"नहीं, आज आपको मैं बताकर रहूंगी।" वह बड़ी मुश्किल से अपनी हिचकियों पर काबू पाती है, "आखिरी रात दस बजे तक खाना लिए उसकी प्रतीक्षा करती रही। मैंने सिर्फ इतना ही कहा कि रात में कम से कम आठ बजे तो घर लौट

आया करो। उसने मेरे बाल पकड़ लिए और मेरे चेहरे पर दो तमाचे लगाए व चिल्लाया कि—मुझ पर हुकुम चलाने वाली तू कौन है! निकल मेरे घर से। उसने मुझे बाहर धक्का देकर दरवाजा बंद कर लिया। आप ही बताइए, मैं और कितना अपमान सहती? उसी रात मकान मालिक का सहारा लेकर भाग आई थी।"

"शन्नो। असली बात क्या थी? वह इतने अच्छे पद पर है फिर क्यों जंगलियों जैसा व्यवहार करता था?"

"अपने मामूली परिवार में एक वह ही पढ़ा-लिखा है, सारे खानदान में पूजा जाता है। शायद मेरी काबलियत वह बर्दाश्त नहीं कर पाता है।"

"इसके अलावा भी जरूर कोई बात होगी जो उसने तुझे पहली रात से मारना आरंभ कर दिया। वह व्यक्ति नार्मल तो हो ही नहीं सकता।"

कितना अच्छा अभिनय कर गई थी शन्नो हनीमून से लौटकर। खूब भारी-भरकम साड़ियां पहने, गहनों से लदी बात-बात पर खिलखिला उठती थी। बन्नो भी अपनी ससुराल से बहुत खुश आई थी। दोनों बहनें घर-बाहर चहकती रहतीं। बन्नो मेहुल के किस्से चटखारे लेकर सुनाती, शन्नो वी.जी. के। श्री व श्रीमती जोशी उन्हें देखकर तृप्त हो उठते थे। तब हमें क्या पता था, शन्नो ने बड़ी-बड़ी मुस्कराती, हंसी बिखेरती आंखों के नीचे की तरफ दर्द की एक कटीली लकीर बड़े यत्न से, गहरे फाउंडेशन से, छिपाकर रखी है! उसकी गहरी लिपस्टिक, काला मस्कारा, किसी बात को छिपाने के प्रयास भर थे।

उस दिन शन्नो अपने घाव टुकड़े-टुकड़े कर मुझे पकड़ाती जा रही थी। किस तरह वी.जी. उसका मजाक उड़ाते हुए हंसा था, "मेडम! यह बंबई है बंबई! यहां आप जैसी हजारों लड़कियां रिसर्च करने के लिए मारी-मारी घूमती हैं। आप किसी का पत्र लेकर आई हैं तो क्या हुआ? कौन घास डालेगा आपको?"

"एक बार मैं उन प्रोफेसर से मिल तो लूं जिनके नाम से पत्र लाई हूं।"

दूसरे दिन वह विश्वविद्यालय से बहुत खुश लौटी थी। उसने वी.जी. को बताया था, "पता है वी.जी. वह तो स्वयं ही मुझे रिसर्च करवाने के लिए तैयार हो गए हैं।"

"ये हो ही नहीं सकता। वी.जी. का अहंकार फुंफकार उठा था, वैसे भी तुम घर संभालोगी कि रिसर्च करोगी?"

"लेकिन मैं घर पर बैठकर सिर्फ रोटियां नहीं पका सकती। तुम्हें रिसर्च पसंद नहीं है तो मैं नौकरी कर लूंगी।

"मुझे तुम्हारा घर से बाहर निकलना या नौकरी करना बिल्कुल पसंद नहीं है।"

"फिर तुमने एक एम.एस.सी लड़की से शादी क्यों की? तुमसे मेरी शादी हो गई है, अब तुम जो कहोगे वही करने को तैयार हूं किंतु मुझे शांति से जीने तो दो।"

"तुम बहस बहुत करती हो!" कहते-कहते वी.जी. का हाथ उठना आरंभ हो गया था।

शन्नो शोध में, जोशी जी मुकदमे के लिए धीरे-धीरे जानकारियों इकट्ठी करने में लगे हुए हैं। बड़ी अजीब-सी बातें सामने आ रही है। वी. जी. अपनी नौकरानी से ही शादी करना चाहता था। विभाग की दो लड़कियों से भी उसके संबंध थे। शन्नो को विश्वविद्यालय जाते देखती हूं तो सहम जाती हूं। सपने का रंग, पता नहीं कहां छिप गया है! आंखों के आगे काला दायरा बन गया है। अपनी लड़खड़ाई जिंदगी को संभालने की जद्दोजहद से वह बार-बार स्वयं लड़खड़ा जाती है।

बन्नो अपने प्रसव के लिए रिवाज के मुताबिक मां के घर आ गई है। वह जब भी समय मिलता है हल्के कदमों से छत पर टहलती रहती है। शन्नो अपने शोध परिणामों को और भी गंभीरता से लिखने में जुटी रहती है। अपना अधिक से अधिक समय विश्वविद्यालय की प्रयोगशाला में बिताने लगी है लेकिन बिना अपना दर्द दिखाए बन्नो के प्रसव की भाग-दौड़ करती रहती है। अस्पताल से वह और उसकी मम्मी बन्नो को उसके गुलगुले बेटे के साथ टैक्सी में वापस लाती हैं। जहां तक होता है वह मां-बेटे की साज-संभाल में अपनी मां का हाथ बंटाती है।

बन्नो एक कमरे में अपने बेटे के गुदगुदे गाल से अपना गाल सटाए हुए नवजात की कोमलता महसूसते हुए ममत्व को गौरव से भर कुछ गुनगुना उठती है। उधर शन्नो अपने कमरे में शोध के लिए डिसेक्शन ट्रे में सफेद-सफेद छोटे नवजात चूहों की गर्दन पर निर्ममता से छुरी चला रही होती है। क्षोभ व क्रोध में वह सिर्फ एक की जगह चार चूहों को काट डालती है।

कभी बन्नो का बेटा झूले पर टंगी घूमती हुई तेज चकरी को देखकर जल्दी-जल्दी पैर चलाकर किलकारी भरने लगता है तो शन्नो घर से निकल मेरे पास आकर बेवजह सिसकने लगती है। गुस्सा कहीं और उतरता है।

"आंटी, मेरा तो इस कालोनी में रहना भी मुश्किल हो गया है। पहले तो सिर्फ लोग मुझे एक-दूसरे को इशारा करके ही दिखाते थे। अब तो बस में लड़के भी आवाजें कसने लगे हैं—पति को छोड़कर तो हम भी रिसर्च कर लें। कोई कहता है—सुना है, अपने किसी प्रोफेसर के लिए पति को छोड़ आई है। कोई कहता है—जरूर चालू होगी।"

"तू दुनिया की परवाह क्यों करती है? तेरे मम्मी-पापा तो तेरे साथ हैं, तेरा सच तो तेरे साथ है।"

"वे बेचारे क्या करें! लोगों की बाते सुन-सुन कर उनकी हालत खराब हो गई है। कुछ रिश्तेदारों ने तो सिर्फ उनसे इसलिए संबंध तोड़ लिए हैं कि उन्होंने मुझे पनाह दी है। उनकी सूरत देखकर मुझे लगता है कि इससे तो अच्छा था, मैं जलकर कहीं मर जाती।"

"ऐसा क्यों सोचती है? जीवन में बहुत उतार-चढ़ाव आते रहते हैं।"

"मेरे साथ ही ऐसा क्यों हुआ? मैंने किसी का क्या बिगाड़ा था?"

मैं निरुत्तर हूं, लड़कियों की तकदीरें उनके किसी को बिगाड़ने या न बिगाड़ने के आधार पर कहां लिखी जाती हैं! कुछ जीवन तो मां-बाप के यहीं हंसते-खिलखिलाते कट जाता है। बाकी का जीवन कैसा होगा, यह उसकी मांग की तरफ बढ़ता एक हाथ निर्णय लेता है, सिर्फ एक हाथ!"

पता नहीं, कैसा विश्वास मेरे मन में कि शन्नो जैसी लड़की को इस जरा-सी बात के कारण भला कौन दोबारा अपनाने से इंकार कर देगा। तब मुझे कहां पता था, स्त्री की मांग से चुटकी भर सिंदूर का लग जाना एक बहुत बड़ी बात होती है। उस स्त्री की परिभाषा ही बदल जाती है। जोशी परिवार कालोनी वालों की बातों से तंग आकर किसी और कालोनी में जा बसा है, बिना किए अपराध की सजा भोगता हुआ।

मुकदमा चलते-चलते महीने, साल निकले जा रहे हैं। वी.जी मुकदमे की हर तारीख को गायब ही रहता है। जोशी जी किसी तरह पता लगाते हैं, वी.जी. ने अपने गांव की किसी लड़की से शादी कर ली है।

शन्नो की मां व उसके पिता गांव जाकर शादी करवाने वाले पुजारी के सामने जब रो उठते हैं तब कहीं वह कोर्ट में गवाही देने के लिए तैयार होता है किंतु कोर्ट में वी.जी. को पहचानने तक से इंकार कर देता है।

पृष्ठ 50 पर जारी

राजा बीरबल

बीरबल उन व्यक्तियों में माने जाते हैं जिन्होंने अकबर को विशेष रूप से प्रभावित किया था। वह अकबर के इतने निकट कैसे पहुंचे कि उनके जीवन का अभिन्न अंग बन गए! प्रस्तुत है **राजमल बोरा** *का खोजपरक लेख।*

राजा बीरबल (1528-1586 ई.) उन बुद्धिमान व्यक्तियों में प्रधान माने जाते हैं जिन्होंने अकबर बादशाह को विशेष रूप से प्रभावित किया। अकबर ने फतेहपुर सीकरी में इबादतखाना बनवाया था। उसमें विशेष व्यक्तियों के स्थान निश्चित थे। इस इबादतखाने में बीरबल बैठते थे। वह अकबर के निकट इतना कैसे पहुंच गए, इस बात का आश्चर्य उलेमाओं को होता था। उलेमा लोग बीरबल को पसंद नहीं करते थे। बादशाह को हिंदू धर्म की ओर आकृष्ट करने में बीरबल प्रधान कारण माना जाता है।

इसमें कोई संदेह नहीं कि अकबर बीरबल से आरंभ से ही प्रसन्न थे और उन्हें सदैव अपने निकट रखते थे। लगता है, अकबर जब भी वैचारिक द्वंद्वों में उलझ जाते उस समय बीरबल अपनी प्रत्युत्पन्नमति के कारण अकबर को द्वंद्वात्मक स्थिति से उबार देते थे। इस आधार पर लोक में अकबर-बीरबल के किस्से प्रसिद्ध हो गए हैं पर इन किस्सों को ऐतिहासिक रूप से प्रामाणिक नहीं माना जा सकता। इन किस्सों में लोक प्रसिद्धि की गूंज है—वह मूल ध्वनि नहीं है।

अकबर-बीरबल के संबंध को देखते हुए कुछ लोग यदि उन्हें विदूषक या मसखरा या लतीफे सुनाने वाला समझने लग जाएं तो यह बीरबल के प्रति अन्याय होगा। यदि ऐसा होता तो मुल्ला अब्दुल कादिर बदायूनी को बीरबल के संबंध में न चाहते हुए भी विस्तार से लिखने की आवश्यकता न होती। *मुंतखाब उत तवारीख* में बदायूनी ने बीरबल के प्रभाव को जिस ढंग से बतलाया है उसे पढ़कर बीरबल के वैचारिक महत्व का ज्ञान होता है। बदायूनी लिखता है :

'नामुराद बीरबल ने बादशाह को यह बात समझाने का प्रयत्न किया कि सूर्य सबको प्रकाश देता है, अन्न, फल और पृथ्वी के पदार्थों को पकाता है और मानव जीवन का आश्रय है। इसलिए इसकी पूजा और भक्ति करनी चाहिए और उगते सूर्य के अभिमुख होना चाहिए, डूबते हुए सूर्य के नहीं। मनुष्य को अग्नि, जल, पत्थर, वृक्ष और समस्त प्राकृतिक वस्तुओं की, यहां तक कि गाय और गोबर की भी पूजा करनी चाहिए। दरबार के कई बुद्धिमान लोगों ने उसके कथन की पुष्टि की और निवेदन किया कि सूर्य ही संसार का मुख्य प्रकाश और जगत निवासियों का हितकर्ता और बादशाहों का मित्र है और उसकी गति के आधार पर ही बादशाह संवत् और सन् कायम करते हैं। यही कारण था कि नौरोज जलाली के दिन बादशाह सूर्य की पूजा करता था और अपने राज्यारोहण का उत्सव भी उसी दिन मनाने की उसे प्रेरणा मिली थी। वह प्रतिदिन उस विशेष रंग के कपड़े पहनता था जो उस दिन के नक्षत्र के अनुकूल हों। सूर्य को अपनी इच्छा के वश में करने के लिए उसने मध्यरात्रि और प्रातःकाल ऐसे मंत्रों का भी जप करना शुरू कर दिया था जो हिंदुओं ने उसको सिखाए थे। उसने गोवध और गोमांस भक्षण का निषेध कर दिया था, क्योंकि हिंदू लोग इनकी भक्तिपूर्वक पूजा करते हैं और इनके गोबर को पवित्र मानते हैं। गउओं के बजाय वे भले आदमियों का बलिदान करते हैं। यह भी कारण बताया गया था कि हकीम लोग इनके मांस को अनेक प्रकार के रोगों का उत्पादक और दुष्पाच्य बताते हैं।

बीरबल ने अकबर के दैनिक जीवन में और उसकी आचरण पद्धति में परिवर्तन कर दिया था। यह बात प्रमाणित है। दीन-ए-इलाही धर्म को स्वीकार करने वालों की सूची मक्खनलाल राय चौधुरी ने अपनी पुस्तक *दीन-ए-इलाही* में उपलब्ध विभिन्न संदर्भों के आधार पर दी है। इस सूची में एकमात्र हिंदू नाम राजा बीरबल का है। बदायूनी का कहना है कि जहां तक संभव हो अकबर ने किसी हिंदू को दीन-ए-इलाही का सदस्य बनाना नहीं चाहा है।

बीरबल कवि था। सरयूप्रसाद अग्रवाल ने याज्ञिक संग्रहालय तथा कांकरौली के संग्रह ग्रंथों के आधार पर बीरबल के 100 छंद अपनी पुस्तक *अकबर दरबार के हिंदी कवि* में प्रकाशित किए हैं। यह प्रकीर्ण कविता ही है। इन 100 छंदों का विभाजन विषयानुसार सरयूप्रसाद अग्रवाल ने किया है :

भक्ति : छंद संख्या 1 से 22; गंगा स्तुति : छंद संख्या 24 और 25; रूप सौंदर्य : छंद संख्या 26 से 49; विप्रलंभ शृंगार : छंद संख्या 50 से 71; ग्रीष्म ऋतु : छंद संख्या 72; खंडित नायिका : छंद संख्या 73; समस्यापूर्ति : छंद संख्या 74 से 78; विविध : छंद संख्या 79 से 100;

(संख्याओं के क्रम में छंद संख्या 23 नहीं है।)

यह कविता ब्रजभाषा में है। 'ब्रह्म' बीरबल का उपनाम था। अकबर ने बीरबल की कविता सुनी और रीझकर बीरबल को 'कविराज' की उपाधि दी—यह उपाधि 'मलिकुश्शोअरा' के बराबर थी।

मिश्रबंधुओं के *हिंदी नवरत्न* में केशवदास के बीरबल से मिलने के प्रसंग का वर्णन लिखा है। कहते हैं, केशवदास ओरछा के राजा पर अकबर की ओर से किए गए जुर्माने को माफ करवाने आगरा गए थे। वहां वह बीरबल से भी मिलने गए। बीरबल उस समय तक प्रसिद्धि प्राप्त कर चुके थे। उनकी ख्याति का एक कारण उनकी दानशीलता भी थी। जब वह बीरबल के घर पहुंचे, उस समय बीरबल अजीर्ण से पीड़ित थे और बाहर आकर मिलने में उन्हें संकोच हो रहा था। इस पर कवि केशवदास ने एक दोहा लिखकर बीरबल के पास भेजा :

जस जाच्यो सब जगत को भयो अजीरण तोय।
अपजस की गोली दऊं ततकाले सुध होय।।

दोहा पढ़ते ही बीरबल बाहर आए। इस पर केशवदास ने निम्नलिखित सवैया सुनाया :-

पावक, पंछी, पसू, नर, नाग, नदी, नद, लोक रचे दस वारी।
'केसव' देव, अदेव, रचे, नरदेव रचे, रचना न निवारी।
कै बर-बीर बली बलबीर, भयो कृतकृत्य महाब्रतधारी।
दै करतापन आपन ताहि दई करतार दुवौ कर तारी।।

कहते हैं, इस छंद को सुनकर राजा बीरबल इतने प्रसन्न हुए कि उन्होंने ओरछा का एक करोड़ का जुर्माना अकबर से माफ करवा दिया और छः लाख की हुंडियां जो उस समय उनके पास थीं, निकालकर केशवदास को दे दीं। अब तो केशवदास और प्रसन्न हो गए। उन्होंने छंद पढ़ा :

केसवदास के भाल लिख्यो विधि, रंक को अंक बनाय संवार्‌यो।
छोरे छुट्‌यो नहिं, धोए धुयो, बहुतीरथ के जल जाय पखार्‌यो।
है गयो रंक के राउ तहीं, जब बीर-बली बलबीर निहार्‌यो।
भूलि गयो जग की रचना, चतुरानन वाय रह्‌यो मुख चार्‌यो।।

केशवदास प्रसन्न होकर ओरछा लौटे। वह राजा बीरबल से बहुत प्रसन्न हो गए थे। बाद में जब उन्हें बीरबल की मृत्यु का समाचार ओरछा में मिला तो उन्होंने शोक में एक छंद रचा :

पाप के पुंज पखावज केसव, सोक के संख मुने सुषमा में।
झूट के झालरि, झांझ अलीक के, आवझ जूथन जानि में।
भेद की भेरी, बड़े डर के डफ, कौतुक भो कलि के कुरमा में।
जूझत ही बलबीर बजे बहु दारिद के दरबार दमामें।।

इस छंद में बीरबल के मरने के बाद कलि के घर में उत्सव मनाए जाने का वर्णन है। 'जूझत ही' का तात्पर्य युद्ध में जूझते हुए मर जाने के बाद दरिद्रता के दरबार में खुशी के नगाड़े बजे। तात्पर्य—राजा बीरबल दरिद्रता का शत्रु था। बहुत दानी था।

गंग कवि का नाम अकबर के दरबारी कवियों में आता है। कवि गंग वहां कैसे पहुंचे, इसका समाधान यह दिया जाता है कि गंग को अकबर के सामने प्रस्तुत करने वाले राजा बीरबल थे। माना जाता है कि बीरबल और गंग दोनों बाल मित्र थे। वैसे ही जैसे कृष्ण और सुदामा थे। उसके प्रमाण में गंग कवि का निम्नलिखित दोहा प्रस्तुत किया जाता है :

भए सुदामा कृस्न हैं, गंग बीरबल फेर।
ता दिन में तंदुल हते, यही दिनन में बेर।।

(सं. : विश्वनाथ प्रसाद मिश्र व बटेकृष्ण)

इस दोहे के साथ-साथ *गंग कवित्त* में बीरबल की प्रशस्ति संबंधी और भी छंद मिलते हैं। छंद संख्या 319 से 326 तक के छंद बीरबल से संबंधित हैं। बाल मित्र होने पर भी बीरबल आयु में गंग से दस वर्ष बड़े थे। बीरबल का जन्म संवत 1585 (1528 ई.) बतलाया जाता है और गंग का संवत 1595 (1538 ई.)। एक कवित्त में गंग स्वयं को बीरबल का गुलाम कहते हैं :

कहियो प्रनाम हौं गुलाम बीरबर को।

बीरबल की मजलिस गंग कवि ने देखी और प्रशस्ति में कहा :

मालती, सकुंतला-सी, को है कामकंदला-सी,
हाजिर हजार चारु नटी नौल नागरै।
ऐल फैल फिरत खवास खास आसपास
चोवन की चहल, गुलाबन की गागरै।
ऐसी मजलिस तेरी दैखी राजा बीरबर
गंग कहै गूंगी है कै रही है गिरा गरै।
मग रह्‌यो मागध न गीत रह्‌यो ग्वालियर,
गोरा रह्‌यो गोर ना अगर रह्‌यो आगरै।

अकबर बीरबल के किस्से तो प्रसिद्ध हैं पर उनको ऐतिहासिक न मानकर लोक प्रसिद्धि का द्योतक ही माना जाना चाहिए। हम उन सब किस्सों पर ध्यान न दें तब भी समस्यापूर्ति से संबंधित बीरबल द्वारा रचित छंदों को देखकर बीरबल की वाक् चातुरी और सामयिक बुद्धि कौशल की प्रशंसा कर सकते हैं। समस्यापूर्ति से संबंध रखने वाले पांच छंद सरयूप्रसाद अग्रवाल ने अपनी पुस्तक में दिए हैं। उनमें से दो छंद नीचे उद्धृत हैं। इन छंदों (जो मुक्तक प्रतीत होते हैं) के संदर्भ का अनुमान किया जा सकता है।

एक बार अकबर बादशाह बीरबल के साथ थे। मजलिस बैठी हुई थी। किसी की दृष्टि टूटी-फूटी, सड़ी हुई वस्तुओं की ओर गई। उन्हें देखकर अच्छा नहीं लगा। उन टूटी-फूटी, सड़ी वस्तुओं की कोई सराहना नहीं कर रहा था। बादशाह भी उनकी सराहना नहीं कर रहा था। प्रश्न था या समस्या थी : *टूटे फूटे सड़े ताको किस विधि सराहिए।*

सब लोग सोच में पड़ गए। क्या उत्तर दें? समझना कठिन था। बीरबल की ओर देखते हुए बादशाह ने कहा, "बोलो, तुम क्या कहते हो?" बीरबल बोला, "हुजूर इसका जवाब अभी पेश करता हूं।" और तब बीरबल ने तुरंत समस्यापूर्ति करते हुए छंद सुनाया :

टूटे पड़े ईख ताकी मिस्री गुड़ कंद करो,
ताकौ लै प्रभाव देव देविन चढ़ाइए।
फूटि के कपास पत राखत है आलम की,
ताके होत वस्त्र कहां लौ गिनाइए।
सड़े जब सन ताके स्वेत वर्न कागज के,
तापर कुरान और पुरान हू लिखाइए।
कहे कवि ब्रह्म सुनो अकबर बादसाह
टूटे फूटे सड़े ताको या विधि सराहिए।

मजलिस में उपस्थिति सभी लोग चकित रह गए। इसी तरह एक बार मजलिस बैठी हुई थी। लोग बातचीत में मशगूल थे। किसी को कुछ कहते नहीं बनता था। अकबर बादशाह को क्रोध आ रहा था। सोच रहे थे कि सबको शांत कैसे करें? गुस्सा तो ऐसा था कि सबको उठाकर समुद्र में फेंक दें किंतु ऐसा कर पाना क्या संभव था? समस्या उभरी : *किनकौ बांधि समुद्र में बोरो।*

कोई एक हो तो कहे। यहां तो एक से एक ऊंचे थे। पर प्रश्न का उत्तर किसी के पास नहीं था। सभी एक-दूसरे का मुंह देख रहे थे। बादशाह की नजर चारों ओर घूम, अंततः बीरबल पर आकर स्थिर हो गई। बोले, "अब तुम ही बताओ बीरबल, क्या करना चाहिए।"

बीरबल सोच रहे थे। सिर खुजलाते हुए बोले, "हुजूर, इसमें परेशान होने की क्या बात है? अभी जवाब देता हूं। समस्या की पूर्ति हुई :

दूत दया[1] मनो मूरख ब्राह्मन[2] नारि[3] निरंकुश कायथ[4] भोरो
स्वार कुवीर[5] कुलच्छन पोहियो[6] आकरो बानियो[7] चाकर खोरो[8]
वैद्य प्रसिद्ध[9] अनाथ सभासद[10] कूद कलावंत[11] काटनो घोरो[12]
ब्रह्म भनै सुन साह अकब्बर, बारहों बांधि समुद्र में बोरो।

उत्तर स्पष्ट था—दया मानने वाला दूत, मूर्ख ब्राह्मण, निरंकुश नारी, भोला कायस्थ, कायर सवार, कुलक्षण पोहिया, आकरा बनिया, खोटा चाकर, प्रसिद्ध वैद्य, अनाथ सभासद, कलावंत की कूद, काटने वाला घोड़ा—इन बारहों को बांधकर समुद्र में फेंकना (डुबोना) चाहिए। *

आइने अकबरी में अबुल फजल ने 'साम्राज्य के विशिष्ट व्यक्ति' शीर्षक से 415 व्यक्तियों का परिचय दिया है। यह परिचय सन् 40 इलाही तक का है। लिखा है : 'सम्राट के शासन के आरंभ से लेकर सन 40 इलाही (1596) तक के अर्थात जिस वर्ष यह ग्रंथ समाप्त हुआ था, पांच सदी से ऊंचे पद वाले अमीरों में जीवित तथा स्वर्गीय दोनों के नाम इस सूची में सम्मिलित हैं परंतु पांच सदी से दो सदी तक अमीरों में केवल उन्हीं अमीरों के नाम सम्मिलित हैं जो सन 40 इलाही तक जीवित थे।'

सूची में बीरबल का परिचय संख्या 85 के अंतर्गत इस प्रकार है :

'85—राजा बीरबल (बीरबर) ब्राह्मण—इनका वास्तविक नाम महेशदास था। यह अत्यंत दीन परंतु बुद्धिमान थे और सब वस्तुओं को बड़ी सरलता से समझ लेते थे। बदायूनी के अनुसार अकबर के सिंहासनारूढ़ होने के थोड़े समय के उपरांत यह काल्पी से दरबार में आए और अपनी प्रत्युत्पन्नमति के कारण अल्पकाल में सर्वप्रिय हो गए। उनके पद्य भी लोगों को बहुत अच्छे लगते थे। इसलिए अकबर ने उन्हें कविराय की उपाधि दी और वह उन्हें सदा अपने निकट रखता था। अकबर के शासन के 18वें वर्ष में नगरकोट के राजा जयचंद ने अकबर को अप्रसन्न कर दिया। इसलिए वह बंदी बना लिया गया और अकबर ने नगरकोट को बीरबल को जागीर के रूप में दे दिया। उनको राजा की उपाधि भी मिली किंतु जयचंद के पुत्र बुधचंद या बुद्धिचंद ने अपने को नगरकोट में बंद कर लिया और हुसैन कुली खां (नं. 24) को आज्ञा मिली कि नगर को विजय करे। परंतु इसी बीच में इब्राहीम हुसैन मिर्जा ने हुसैन कुली पर आक्रमण कर दिया। इसलिए हुसैन कुली घेरा उठा लेने के लिए विवश हो गया और संभवतः बीरबल को जागीर न प्राप्त हो सकी।

'बीरबल का अधिकांश समय दरबार में ही व्यतीत होता था। तथापि कभी-कभी वह दौत्य कर्म के लिए भी भेजे जाते थे। राज्य के चौंतीसवें वर्ष में (वास्तव में इकत्तीसवें वर्ष 1586 ई.) में बीजूर और सवाद के यूसुफ भाइयों को पराजित करने के लिए भेजा गया। जब उसने अकबर से सहायता मांगी तो उसने हाकिम अबुल फतेह (नं. 112) के साथ बीरबल को भेजा। इसका परिणाम बड़ा भयंकर हुआ। वापस आते समय सम्राट के आठ हजार सैनिकों तथा अधिकारियों को अपने प्राण खोने पड़े। इसमें बीरबल भी था। उनकी मृत्यु के कारण अकबर को घोर दुख हुआ।

'बीरबल दानशीलता, संगीतज्ञता तथा कविता के लिए ख्यात थे। उनके चुटकुले अब भी लोगों की जबान पर रहते हैं।'

अकबर की बीरबल से प्रथमतः भेंट कैसे हुई? इस संबंध में अनुमान अधिक किए गए हैं, प्रामाणिक-ऐतिहासिक वृत्त उपलब्ध नहीं हैं। जनश्रुतियों के रूप में कथाएं मिलती हैं। इतनी बात सच है कि अकबर के दरबार में जब उनका प्रवेश हुआ उस समय बीरबल की अवस्था 35 वर्ष की रही होगी अर्थात 1563 ई. के आसपास यह दरबार में पहुंच गए थे।

तबकात-ए-अकबरी में बीरबल का उल्लेख अकबर के शासन के अठारहवें वर्ष में हुआ है। उस समय से कुछ वर्ष पूर्व ही बीरबल अकबर की सेवा में आए थे। *तबकात-ए-अकबरी* में इस वर्ष (1574 ई. में) बीरबल को 'कविराय' की उपाधि देने का उल्लेख है। उस समय आदेश हुआ था कि नगरकोट के राजा से नगरकोट छीनकर बीरबल को दिया जाए। सच तो यह है कि इससे कुछ वर्ष पूर्व (संभवतः 1563 ई. के आसपास) अकबर, बीरबल का परिचय हो गया था। नगरकोट पर जब आक्रमण किया जा रहा था उस समय बीरबल अकबर के साथ में ही थे। सन् 1563 ई. से 1574 ई. के बीच के वृत्त ठीक से मिलते नहीं हैं, किंतु बाद का क्रम उपलब्ध है। यदि हम 1563 ई. को अकबर, बीरबल के संपर्क का समय मान लेते हैं तो अकबर, बीरबल का संबंध 1563 से 1586 ई. तक लगभग 23-24 वर्ष तक रहा है, यह कह सकते हैं।

1563 ई. से बीरबल अकबर की सेवा में रहे। अब्दुल क़ादिर बदायूनी की टिप्पणी का उल्लेख इलियट-डाउसन ने *तबकात-ए-अकबरी* के हवाले से किया है जो इस प्रकार है :

'ब्रह्मदास नामक एक ब्राह्मण था, जो भाट का काम करता था। यह अपने बराबर वालों में बड़े आदमियों के कामों की कहानियां कहने में प्रसिद्ध था और हिंदी में अच्छी कविता करता था। उसने कुछ वर्ष बादशाह की सेवा की थी और बादशाह के निजी नौकरों में गिना जाता था। उस समय (शासन के अठारहवें वर्ष में) उसको कविराय की उपाधि दी गई थी।'

कुछ वर्ष 1574 ई. के पूर्व के हैं। बादशाह इतनी जल्दी तरक्की नहीं दे सकता था। यों तो मानने वाले यह भी मानते हैं कि अकबर का परिचय बीरबल से उस समय हुआ जब बीरबल बालक थे। पर इस बात पर विश्वास करना इसलिए कठिन है कि अकबर बादशाह का जन्म 1542 ई. में हुआ था और बीरबल का जन्म 1528 ई. में। बीरबल अकबर से आयु में 14 वर्ष बड़े थे। हां, इन किंवदंतियों के आधार पर अनुमान किया जा सकता है कि काशी में विद्योपार्जन के पश्चात बीरबल दिल्ली गए। वहां उन्होंने कुछ फारसी और अरबी सीखी। इसी अवस्था में उनका एक हकीम से परिचय हुआ जिसने उन्हें निरोग कर राजा टोडरमल से मिला दिया। राजा ने उन्हें योग्य और चतुर देखकर अकबर से भेंट करा दी। इतिहासकार टॉड के कथनानुसार बीरबल आमेर नरेश राजा भगवानदास के आश्रय में थे। बाद में उन्होंने बीरबल को नजर रूप में अकबर के यहां भेज दिया। जो भी हो, इतनी बात सच है कि 1563 ई. के आसपास अकबर से बीरबल का परिचय हो गया था। उस समय से बीरबल बादशाही सेवा में थे। तब से 1574 ई. तक का वृत्त ठीक से ज्ञात नहीं है।

विंसेंट स्मिथ का कहना है कि फतेहपुर सीकरी में बीरबल के नाम से अत्यंत भव्य इमारत बनी थी और वह इमारत बीरबल के नाम से ही प्रख्यात है। इसका निर्माणकाल 1579 ई. अथवा 1572 ई. (संवत 1629) है। स्मिथ एक किंवदंती का संदर्भ देते हुए लिखते हैं कि वह इमारत बीरबल की पुत्री के लिए बनी थी। भवन की सजावट की बहुलता और सुंदरता को देखकर राजा बीरबल के प्रति अकबर के विशेष स्नेह का बोध होता है।

स्मिथ की बात को हम ठीक मान लेते हैं तब तो 1563 ई. तक अकबर, बीरबल के परिचय की और पुष्टि होती है। बदायूनी के कुछ वर्ष पूर्व कहने से भी इस बात की पुष्टि होती ही है। दूसरी बात यह भी है कि 1569 ई. के बाद (इस वर्ष के आसपास) फतेहपुर सीकरी की योजना बनी और तब से ही इसका निर्माण कार्य शुरू हुआ। इस निर्माण कार्य के साथ-साथ बीरबल के भवन का भी निर्माण हुआ। इस दृष्टि से भी यह बात ठीक लगती है

---

* *अकबर के दरबार के हिंदी कवि* से। *हिंदी साहित्य का इतिहास* में इस छंद में पाठभेद है। आचार्य शुक्ल ने यही छंद इस प्रकार दिया है :

पूत कपूत[1] कुलच्छन नारी[2], लराक परोसि[3], लजायन सारो[4]
बंधु कुबुद्धि[5], पुरोहित लंपट[6], चाकर चोर[7], अतीथ धुतारो[8]।
साहब सूम[9], अड़ाक तुरंग[10], किसान[11] कठोर, दिवान[12] नकारो।
ब्रह्म भनै सुनु साह अकब्बर, बारहौं बाँधि समुद्र में डारो।।

कि फतेहपुर सीकरी की योजना बनने से पहले बीरबल अकबर की सेवा में काफी पहले आ गए थे।

विसेंट स्मिथ का कहना है कि अकबर का फतेहपुर सीकरी में आवास 1569 ई. से 1585 ई. तक रहा है। इस दृष्टि से अकबर के शासनकाल को तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है—(1) 1559 ई.-1569 ई. फतेहपुर सीकरी में आवास से पूर्वकाल, (2) 1569 ई. - 1585 ई. फतेहपुर सीकरी में आवास काल और (3) 1585 ई.-1605 ई. फतेहपुर सीकरी को आवास रूप में छोड़ देने का काल। इन तीनों कालों में अकबर के चरम उत्कर्ष का काल फतेहपुर सीकरी में आवास का काल है और इसी काल में राजा बीरबल अकबर के साहचर्य में रहे हैं। इसी काल में अकबर के दरबार में सभी महत्वपूर्ण व्यक्ति, जिन्हें नौ रत्न कहा जाता है, उपस्थित रहे हैं। सबसे प्रथम बिछुड़ने वालों में बीरबल ही हैं। 1569 ई. से 1585 ई. तक बीरबल फतेहपुर सीकरी में अकबर के साहचर्य में रहे। उनका निधन 1586 ई. में हुआ।

अकबर बादशाह बीरबल को अपने साथ रखते थे। अवकाश के क्षणों में, वैचारिक रूप में चर्चा के समय में, और ऐसे सभी वक्त में जब अकबर किसी समस्या के समाधान की तलाश में रहते थे। इस संबंध में सारे विवरण हमें उपलब्ध नहीं हैं। वह अकबर का केवल मनोरंजन करते हों, ऐसी बात नहीं है। मनोरंजन तो एक माध्यम मात्र रहा है। मानसिक रूप से बीरबल बादशाह की अभिरुचियों से परिचित हो गए थे। संस्कृत तथा ब्रजभाषा तो वह जानते ही थे किंतु इसके साथ-साथ वह अरबी तथा फारसी भाषाएं भी समझते थे। ब्रजभाषा की कविताओं का परिचय अकबर को बीरबल के कारण ही मिला है। ब्रजभाषा के कवि अकबर के दरबार में बीरबल के कारण भी पहुंचते थे। केशवदास और गंग कवि के उदाहरण तो उपलब्ध हैं ही। स्वयं अकबर बादशाह ने ब्रजभाषा में कुछ छंद लिखे हैं। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने अकबर के छंदों को *हिंदी साहित्य का इतिहास* में उद्धृत किया है। इनमें एक है :

जाको जस है जगत में, जगत सराहै जाहि।
ताको जीवन सफल है, कहत अकब्बर साहि।।

आचार्य शुक्ल ने बीरबल को कवि माना है। बीरबल को उन्होंने भक्तिकाल के फुटकल खाते में रखा है। अकबर के काल के दरबारी कवियों को उन्होंने इसी खाते में रखा है। इनमें नरहरि, रहीम, गंग, राजा टोडरमल आदि कवि हैं। बीरबल की रचनाओं के संबंध में शुक्ल जी ने लिखा है :

'इनकी कोई पुस्तक नहीं मिलती है, पर कई सौ कवित्तों का संग्रह भरतपुर में है। इनकी रचना अलंकार आदि काव्यांगों से परिपूर्ण और सरल होती थी। कविता में अपना नाम ब्रह्म रखते थे।'

सरयू प्रसाद अग्रवाल (*अकबर दरबार के हिंदी कवि*) ने केवल सौ छंद संपादित कर प्रकाशित किए हैं। शुक्ल जी के अनुसार उनके और भी छंद हैं।

अकबर, बीरबल का साथ इबादतखाने में भी था। लगता है, बदायूनी का प्रवेश दरबार में बीरबल के बाद में हुआ है। अबुल फजल और फैजी दोनों का प्रवेश भी बाद में हुआ है। इबादतखाने में किसी हिंदू का प्रवेश आरंभ में वर्जित रहा है। किंतु बाद में प्रवेश हो गया था। बदायूनी को आधार मानकर माखन लाल रायचौधुरी ने इबादतखाने का रेखांकन किया है उसमें चारों दिशाओं में चार प्रधान व्यक्ति बैठे हुए दिखलाए गए हैं। उसमें अकबर बादशाह मध्य में बैठे हुए हैं। उत्तर-पश्चिम में फैजी, उत्तर-पूर्व में राजा बीरबल, दक्षिण-पश्चिम में रहीम, और दक्षिण-पूर्व में अबुल फजल बैठते थे। इन बैठकों में धार्मिक सिद्धांतों पर चर्चा होती थी। *मुंतखाब उत तवारीख* में बदायूनी लिखता है :

'परंतु हरामी बीरबल, शेख अबुल फजल और हकीम फतह इससे भी आगे निकल गए। उन्होंने बादशाह को धर्म विमुख बना दिया। अब वह इलहाम, करामात, आश्चर्य और शरीयत पर शंका करने लगा और इन लोगों ने ये मामले इतने बढ़ा दिए कि मैं लेखक उनकी संगति में नहीं रह सका।'

इतनी बात स्वीकार करनी होगी कि इबादतखाने में जो संवाद होता था, वह धार्मिक सिद्धांतों को आधार मानकर होता था। अकबर विभिन्न प्रकार के विचारों को सुनते थे। इन संवादों के कारण अकबर की विचारधारा में परिवर्तन हुआ है और इस परिवर्तन को बदायूनी ठीक नहीं मानता था। बदायूनी की तुलना में अबुल फजल के विचारों को बीरबल अधिक ठीक मानते थे। फैजी के विचार भी राजा बीरबल के विचारों से मिलते हैं। संक्षेप में इबादतखाने में बीरबल की उपस्थिति इस बात को प्रमाणित करती है कि बीरबल मात्र लतीफे सुनाने वाले या चुटकुलों के माहिर नहीं थे। वह गंभीर विचारों में रुचि लेते थे और अपनी कलात्मक योग्यता से, हाजिरजवाबी से बादशाह का मन जीत लेते थे।

994 हिजरी (1586 ई.) में अफगानों के रोशनिया संप्रदाय को दबाने के लिए अन्य सामंतों के साथ राजा बीरबल को भेजा गया था। बीरबल को सैनिक अभियानों का विशेष अनुभव नहीं था किंतु न जाने क्यों, किसके परामर्श पर बीरबल को भेजने की इच्छा अकबर को हो गई। *तबकात-ए-अकबरी* में लिखा है :-

'जब यह समाचार आया कि ज़ैन खां कोका स्वात में घुस गया है और इस अफगानों के संप्रदाय का, जिनकी संस्था चींटियों और टिड्डियों जैसी है उसने मुकाबला किया है तो 2 शफर, 994 हिजरी को सईद खां मक्खर, राजा बीरबल और अन्य लोगों को सेना के साथ उसकी सहायता को भेजा गया। कुछ दिन बाद उनके पीछे और सेना देकर अबुल फतह को भी रवाना किया। जब ये सहायक सेनाएं आ गई तो ज़ैन खां ने इन अफगानों को लूटना-खसोटना शुरू किया और उसके हाथ में बहुत-सा लूट का माल आया। जब वह करागर की घाटी में पहुंचे तो एक व्यक्ति ने राजा बीरबल से कहा कि अफगान लोग उसी रात को आक्रमण करने वाले हैं। पर्वत और घाटी की लंबाई केवल तीन या चार कोस है। यदि घाटी पार कर ली जाएगी तो फिर इस आक्रमण का भय नहीं रहेगा। ज़ैन खां से पूछे बिना ही राजा बीरबल इस घाटी को पार करने के लिए आगे बढ़ा और उसकी समस्त सेना उसके पीछे-पीछे चली। सायंकाल को जब सूर्यास्त होने वाला था तो वे घाटी पर पहुंचे। इसकी चोटियों पर दोनों ओर अफगान लोग छाए हुए थे। इस तंग घाटी में अंधेरे के अंदर तीर और पत्थर सेना पर बरसाए जाने लगे। लोगों को मार्ग नहीं सूझा और पर्वत कंदराओं में फंसकर मर गए। भयंकर पराजय और वध हुआ। लगभग आठ हजार आदमी मारे गए और राजा बीरबल प्राण बचाने के लिए भागा परंतु मारा गया।'

बीरबल की असमय और इस प्रकार से मृत्यु के समाचार को सुनकर अकबर को घोर दुख हुआ। बादशाह के दुख को देखकर कुछ लोगों ने बादशाह को विश्वास दिलाया कि उसकी मृत्यु नहीं हुई है। वह बचकर कहीं निकल गया है। उसको ढूंढकर लाने का प्रण भी अकबर के सामने कुछ लोगों ने किया था। यह सब अकबर की सांत्वना के लिए था। बीरबल के शोक में अकबर उदास रहने लगा था। उसका हंसना और रमना सब बंद हो गया था। निम्नलिखित दो सोरठे अकबर के भाव को व्यक्त करते हैं :

दीन जान सब दीन एक दुरायो दुसह दुख।
सो अब हमको दीन कुछ नहिं राख्यो बीरबर।।
पीथल सूं मजलिस गई, तानसेन सूं राग।
हंसबो रमबो बोलबो गयो बीरबर साथ।। ❑

तीन कविताएं : विवेक निराला

चिट्ठी

ओ पिता सरीखे हररके आम के पेड़
सादर प्रणाम।
मैं तुम्हें बिना बताए मुंह अंधेरे ही
गांव छोड़कर शहर आ गया
क्योंकि मैं सोचता था
कि शहर में नौकरी
रात की आंधी में टपके हुए
आमों की तरह होती है
जिसे सबसे पहले पहुंचने वाला
ही पा सकता है।
ओ पिता! अपना खयाल रखना
बचाए रखना मेरे लिए थोड़ी-सी छांह।

ओ नदी मां!
मुझे माफ करना
तुम्हारे जल से रात की
आंखों की कीचड़ साफ किए बिना
बड़े सवेरे पहली बार
मैं गांव से बाहर निकला।

मां! आज ही आई है भाई की चिट्ठी
उसने लिखा है
कि गांव में पड़ गया है अकाल
और मां तुम
बहुत दुबली हो गई हो
बिल्कुल पतली लकीर की तरह।
यहां शहर में मैं नसीम पतंगबाज से
एक बड़ी-सी पतंग बनवा रहा हूं
कुछ पत्रिकाओं में
छपी हुई कविताओं के एवज में
मिले हैं कुछ रुपये
उनसे खरीदूंगा लटाई और डोर
मैं यह सब लेकर आ रहा हूं मां!

फिर खलिहान से
मैं पतंग बढ़ाऊंगा दूर आकाश में
और कन्ने में बादलों को लपटाकर
खींच लाऊंगा डोर के जोर से

बादलों को चीर दूंगा
मां! तुम्हें दुबराने नहीं दूंगा
मैं आ रहा हूं मां!
शहर में अपनी सारी मछलियां बेचकर
कांधे पर जाल डाले हुए
लौट रहे मछुआरे की तरह।

चिर बूढ़ों के बारे में

जिन्होंने कंचों से निशाना नहीं साधा
जो पतंग के सहारे कभी उड़े नहीं
तितली के पीछे नहीं दौड़े
जुगनू शीशियों में कैद नहीं किए
या किताबों में नहीं सहेजे मोर के पंख
जिन्होंने किसी सुंदर लड़की से
प्रेम नहीं किया
कभी नहीं लिखा कोई प्रेमपत्र
एक टूटे हुए दिल के साथ
आकाश के तारे नहीं गिने
जिन्होंने सौंदर्य के बारे में
कभी उम्मीद भर नहीं सोचा
कोई प्यार का गीत नहीं गाया
जिन्होंने कोई संघर्ष नहीं किया
खुद से भी नहीं
जो बागी झंडे की तरह तने नहीं
तटस्थ रहे
समझौतों के अभ्यस्त रहे
उनके बारे में कुछ न कहना चाहते हुए भी
कहनी ही चाहिए एक बात
कि वे चिर बुढ़ापे से ग्रस्त रहेंगे
और एक रोज
मर जाएंगे
छीज रहे तन और मन पर कलपते हुए।

पृथ्वी उदास है

एक दिन घूमते-घूमते
अचानक पृथ्वी उदास हो गई
सहम गए ग्रह-उपग्रह-नक्षत्र सब
खगोलशास्त्रियों ने टेलिस्कोप निकाले
और आसमान ताकते रहे।
राष्ट्राध्यक्षों ने राष्ट्रीय ध्वज झुका लिए
मगर, पृथ्वी उदास ही रही।
कवियों ने गीत लिखे
उदासमना पृथ्वी के लिए
चित्रकार उल्लसित पृथ्वी की
विभिन्न मुद्राएं बनाते रहे
नर्तकों ने घुंघरू पांवों से उतारे
और खूंटियों पर टांग दिए।
मगर, पृथ्वी फिर भी उदास रही।
लोगों ने समझा
आपसी लड़ाई से क्षुब्ध है पृथ्वी
इसलिए तुरंत समझौते किए गए
अनिष्ट की आशंका से
मंदिरों में घंटे बजे
यज्ञ हुए, हवन हुए
पर्यावरणविदों ने पेड़ लगाए
प्रदूषण का खतरा भांपते हुए
नारीमुक्ति आंदोलन की कार्यकर्ताओं ने
पृथ्वी के स्त्रीलिंग होने को ही
उसकी उदासी का कारण माना
और इस शताब्दी को
नर शताब्दी की संज्ञा देते हुए
जी भरकर कोसा
फिर भी पृथ्वी उदास ही रही

पृथ्वी अब भी उदास है
कि राजा जनक के बाद
किसी किसान के हल का फल
किसी घड़े से टकराया क्यों नहीं!

तीन ग़ज़लें : जितेंद्र त्रिपाठी

एक

ख्वाब टूटे हुए और उजड़ा हुआ घर देखे
कैसे कोई तेरी आंखों का समंदर देखे!

कैसी आमद-ए-इंकलाब है, बताओ हमें
आज तहजीब के हाथों में भी पत्थर देखे!

दाग औरों के सभी देखने के आदी हैं
कोई अपने भी गिरेबां में झांककर देखे!

मैंने बच्चों की तरह दोस्त इन्हें पाला है
मेरे जख्मों को कोई हाथ लगाकर देखे!

दो

किसी भी सिम्त से जो हमने जिंदगी देखी
हरेक मुकाम पर एक जंग-सी छिड़ी देखी।

हरेक वर्क में एक फूल-सा दबा देखा
हरेक लफ्ज में एक आग-सी लगी देखी।

उसी मकान में थी तीरगी जहां हमने
सड़क की ओर की सब खिड़कियां खुली देखीं।

अपने माथे की सलवटों में आज दुनिया ने
एक सहमी हुई, सिकुड़ी हुई जमीं देखी।

तीन

उम्र के शीशे में यूं ही रात-दिन ढलते रहे
पांव पत्थर के बनाकर आग पर चलते रहे।

वक्त के हर दौर में यूं ही सफर होता रहा
मुसाफिर गिरते रहे और काफिले चलते रहे।

कल निजाम-उल-मुल्क के महलों में थी दीपावली
रात भर गुरबत की आहों के दिए जलते रहे।

एक अजब-सा शोर सारे कारवां में हो गया
रहजनों का डर दिखाकर राहबर छलते रहे।

फासलों को खत्म करने आप आए थे मगर
फासले बढ़ते रहे और फैसले टलते रहे।

छह कविताएं : विष्णु चंद्र शर्मा

एक

नदी का
दुख
पारदर्शी है
उठो
देखो उसे
उसके पास बैठो!

कहो भी तो :
तुम्हारा दुख
पारदर्शी है
नदी में!

दो

पाल अपना गिराकर
वह नाव
डगमग हो रही है
नदी पर
क्या तुम्हें डर है!

पार
कैसे करोगी
मझधार!

तीन

घर नहीं जागा
सभी दरवाजे
अभी हैं बंद

घर कभी उठकर
जगाता था मुझे :
चाय का पानी चढ़ाओ
दूध मैं लाया .....

घर वही है
नहीं है पदचाप उनकी!



रेखांकन : वीरेंद्र

घर/बिना उनके
सूनी मांग-सा क्यों
सालता है
मुझे!

चार

नदी पर है
सूरज अबोला
और शीशम की
हर शाख पर है
चील का टोला

क्या
नदी
जब
सिहरती है
सांस मेरी;
कांपती हो
तुम!

पांच

तैरते हैं
लोग
डुबकी
लगाते हैं
लोग।

नदी
मैं
दुख के भंवर पर
तैरती हूं।

नदी
मैं
डूबी हुई
खुद को
मथा
करती।

छह

धूप पसरी है
नदी
तुम
तप रही हो!

नदी!
देखो आंख में
मेरे शीशम की
फली है।
नदी!
वह भी
ताप पीकर
हंस रहे थे ... ।

नदी।
दुख पीकर
जी रही हूं ...
मैं ..... ।

घोंसला

आशा बगे

मराठी से अनुवाद : अरुंधती देवस्थले

राजीव की आंख खुलती हैं। रात भर की वह घनघोर बारिश। अब वह सब धमाका खत्म होकर साफ-सुंदर आसमान खिड़कियों से आंखों पर उतर रहा था।

कप-प्लेट की किनकिन, नल की फरफराहट, तड़के की आवाज, छोटे बच्चों की हबड़ाधबड़ी। एक बासी सुबह उसके बदन पर गिरकर फैल रही है। पहले तो उसे संदर्भ पता नहीं चलता। दूध वाले ने दरवाजे पर बोतल रख छोड़ी होगी। अब इस वक्त तो बनी-बनाई ही चाय चाहिए। और फिर एकदम पता चल जाता है वह अपने जुहू के फ्लैट में नहीं, यहां श्याम-मृदुला के घर में है, अंधेरी में।

उसे सुबह के बासीपन का अब पता चला है। उसे अच्छा लगता है। अब भी इसी तरह सुस्ताने का उसका मन हो रहा है। लेकिन वह उठ जाता है।

उसे याद आता है, जुहू में समुंदर के पास ही उसका फ्लैट है। खुला, तीन बैडरूम का। रहने वाला वह अकेला। कुछ घंटे रात के और कुछ सुबह के। पीछे वाली खिड़की से समुंदर नजर आता है। सोकर उठने पर वह पहला दर्शन समुंदर का करता है। उससे अकेलेपन की तीव्रता कुछ कम हो जाती है। लेकिन कुल मिलाकर वह सब ऊबाऊ ही होता है। एक-डेढ़ कप चाय बनाकर खुद ही पी जाइए। वहां की वह तह लगाकर रखी हुई-सी सुबह, और यह यहां की सुबह अंग-अंग से लिपटने वाली, आगोश में लेने वाली। यहां की इस सुबह के सारे स्पर्श उसके लिए अनोखे हैं। सुबह का ही नहीं, यहां हर क्षण का नया रंग है।

वह बाहर के कमरे में आता है। रसोई के सिंक के पास खड़ी मृदुला कप धो रही है। साड़ी ऊपर खोंस रखी है, काम की सहूलियत के लिए। पेटीकोट नजर आ रहा है। बिखरे हुए बाल। उनींदी आंखें, उनमें तैरती नींद, बासी चेहरा। लेकिन इस सुबह का और मृदुला का भी बासीपन उसे मन मोह लेने वाला लगता है। यह बिखरी-बिखरी-सी सुबह, मृदुला, उसका घर। सब कुछ फैला पड़ा है। राजीव उसे जैसे चिकोटी में पकड़ने की कोशिश कर रहा है। वह फैला-बिखरापन भी उसे बहुत अच्छा लगता है।



रेखांकन : राजेंद्र गायकवाड़

उसकी आहट सुनकर मृदुला पीछे मुड़ती है। "कब उठे? वह तो अब भी सो रहे हैं।"

"उसे सोने दो!"

"क्या बारिश हुई, कल!"

"और आज तो सब कुछ क्लिअर है। पता नहीं, फिर बादल आ जाएं?" उसे चाय का पानी चढ़ाते देखकर, वह कहता है, "उठने दो श्याम को भी। उसी के साथ लूंगा!"

"उनके साथ फिर ले लीजिए। आपको, उनको बेड-टी चाहिए ही चाहिए, मैं जानती हूं।"

राजीव को भी चाय चाहिए ही होती है। उसे यहां थोड़ी झिझक-सी होती है। इतनी आदत हो जाने के बाद भी वह असहजता, परायापन अनायास ही सिर उठाता है। लगने लगता है, इस घर से, मृदुला-श्याम से जुड़े हुए ये बंध यहीं खत्म कर वापस लौट जाना ठीक होगा। कहीं न रुकने का, न टिकने का स्वभाव है उसका। जैसे ही लगने लगता है कि कहीं कदम ठहर रहे हैं तो वह तपाक-से सारे संदर्भ तोड़कर, झटक देता है। लेकिन इस घर से कटने का मन नहीं होता। इस घर के इर्दगिर्द बिखरे नन्हे-नन्हे पंख मन की कोमलता से आ मिलते हैं। उन्हें हटाकर दूर कर देना अभी तक संभव नहीं हो पाया है।

उसका उनसे जो रिश्ता नहीं है, उसे मृदुला-श्याम ने भी माना है। बिना बोले, बिना कुछ कहे, सहजता से। उसके साथ उन दोनों के व्यवहार में कोई पर्दा, शर्मिंदगी नहीं है—न कोई असहजता।

पहले-पहले मृदुला उसे भाईसाब कहती थी, राजीव भाईसाब।

"देखिए, मुझे इस तरह भाईसाहब न कहिए। मैं भी आपको भाभी नहीं कहता।"

"भाईसाब कहने से अपनापन लगता है।"

"लेकिन वह अपनापन आपसे हर बार वसूल करने वाला मैं कौन होता हूं? अकेली जान! आगे-पीछे के तमाम संदर्भों से काट दिया है मैंने अपने को।"

वह तीखेपन से कह उठता है। उसे अच्छा लगता भी है और नहीं भी। सच तो यह है कि 'भाईसाब' में जो कोमलता है वह उसे जलाती जाती है। उसने सोच लिया है कि वे सब स्पर्श उसके लिए नहीं हैं।

मृदुला ने बीच का पर्याय ढूंढ निकाला है। राजीव भाई, लेकिन वह मृदुला ही कहता है।

उसे चाय का कप देने, मृदुला करीब आती है।

"और है.....!"

"आपने ली?"

"एक बार तो ले ली। दूसरी उनके उठने के बाद होगी ही!"

वह उसे अच्छी तरह देखता है। मृदुला ने कोई प्रसाधन नहीं किया है। करने का समय ही कहां होता है! बिस्तर से उठकर वह सीधी काम में जुट जाती है। सब्जी काटती है। आटा गूंदती है। अपनी तरफ, अपनी देह को देखने की उसे फुर्सत कहां!

मृदुला को उस तरह देखते हुए राजीव को रमोला याद आती है। उसके चेहरे की तराशी-सी ताजगी को उसने कभी बिखरा-फैला हुआ नहीं देखा। जब भी देखो चेहरे की हर लकीर स्थिर, अपने स्थान पर। पाऊडर की तह के नीचे उसका बासीपन ढंका रहता है। खुद को लेकर, खुद के शरीर को लेकर एक कमाल की सतर्कता! सिर्फ देह को ही लेकर नहीं। देह की हर भूख एकदम सुस्पष्ट, बेताब, उत्सुक, बेतहाशा। घर भी वैसा ही टिपटाप। उस पर एक भी सिलवट नहीं।

रमोला.....मृदुला!

चाय का कप सिंक में रखने के लिए वह उठता है। तब मृदुला वहां नहीं होती। पीछे की बरामदेनुमा बालकनी में स्टूल लेकर वह कुछ कर रही होती है।

राजीव को देखते ही कहती है, "राजीव भाई, वह जो चिड़ियों का घोंसला है उसे हटा देंगे जरा? बहुत कूड़ा हो जाता है। पचासों बार झाड़ू लगाने पर भी साफ नहीं लगता।"

वह छोटे से टेबल के ऊपर खड़ी है। साड़ी अभी-भी उसी तरह ऊपर खोंस रखी है। ब्लाऊज के एक-दो बटन खुले पड़े हैं। ब्रा की पट्टी बाहर झांक रही है। और इस तरह की अस्तव्यस्तता में कोई उसे देख रहा है, इसकी उसे कोई परवाह नहीं है।

"आप नीचे उतरिए ..... मैं देखता हूं, जो भी कुछ देखना है", वह उस टेबल पर चढ़ जाता है। तिनका-तिनका जोड़कर बनाया हुआ चिड़िया का घोंसला। अंदर छोटे-छोटे चार-पांच अंडे। चिड़िया कहीं बाहर गई होगी।

कौन सिखाता है इन प्राणियों को यह सब जुटाना और रिश्तेदारी! मनुष्य को यह सब सीखना पड़ता है।

"क्या देख रहे हैं? लाठी दे दूं।"

"नहीं! घोंसला खाली नहीं है।"

"क्या मतलब?"

"उसमें चार-पांच अंडे हैं। उन्हें गिराऊंगा तो टूट जाएंगे।"

"ओह। देखूं ..... देखूं तो," मृदुला बच्चे जैसी अधीरता दिखाती है। वह नीचे उतरता है। वह ऊपर चढ़ जाती है लेकिन अब भी उसे वह ठीक से नजर नहीं आ रहा है, पर उत्सुकता तो कमाल की है। अब तक श्याम भी जाग गया है। वह उसका हाथ पकड़कर खींचती हुई उसे वहां तक ले आती है।

"पहले चाय-चाय भाई, चाय! कब से चिल्ला रहा हूं वहां से। बेड-टी के लिए।"

लेकिन वह अब भी अंडों में ही मसरूफ है।

"ए! .... देखा उस घोंसले में चार-पांच अंडे हैं। उनमें से चूजे निकलेंगे। वे बड़े होंगे और फिर यहां अंडे देंगे।"

"पागल, यह सब होने तक क्या यहीं पर रहेंगे?"

"मुझे ठीक से दिखाई नहीं दे रहा अब भी। वह बड़ा टेबल यहां तक खींच लूं? मुझे थोड़ा ऊपर उठाइए ना।"

"चाय ....!"

"अरे! वह तो बना ही दूंगी। सिर्फ पांच मिनट लगेंगे। प्ली .... ज।"

"हद हो गई। अब उसमें इतनी देखने वाली क्या बात है?"

लेकिन वह अपनी जिद पर कायम है। श्याम उसे ऊपर उठाता है। राजीव के वहीं पर होने से उन्हें कोई फर्क नहीं पड़ता।

"देख लिया?"

"एक मिनट। उफ्! कैसे सुंदर हैं, ये? और मैं उन्हें गिराने जा रही थी।"

"देवीजी, आप अपना वजन घटाइए, मैं घंटों आपको यों उठाए रखूंगा?" श्याम का मजाक।

वह देख लेती है। लेकिन अब भी वह वही सोच रही है—घोंसला, अंडे, चूजे। श्याम उस पर व्यंग्य करने की ताक में है।

"बाप रे बाप! राजीव, क्या भारी वजन है इसका! आगे-पीछे चावल का ढेर और बीच में पांच-छह रोटियां। और फिर यह दावा कि आजकल मुझे भूख ही नहीं लगती।"

लेकिन उनकी बातें सुनने के लिए मृदुला वहां थी ही नहीं। वह चाय बनाने के लिए अंदर भाग गई है।

हाथ में ही दो कप लेकर मृदुला आती है। साड़ी वैसे ही ऊपर टांकी हुई। अंदर से पेटीकोट झांक रहा है।

"मुझे चाय नहीं चाहिए। अभी तो पी थी।"

"मिल रही है तो पी ले भाई। हमें तो चाय के लिए नंबर लगाना पड़ता है।"

चाय देने मृदुला फिर करीब आती है। राजीव को रमोला याद आती है। उसे रमोला की देह की हर रेखा अच्छी तरह मालूम है। लेकिन मृदुला के पास ऐसा कुछ है जिससे वह खुद बेखबर है। रमोला उसके आसपास भी नहीं फटक सकती। सीधा, बिना किसी सलवट का, खुद को अच्छी तरह जानने वाला वह अस्तित्व और उसकी दूर से आने वाली खुशबू और ढूंढने पर मिलते रहने वाला मृदुला का यह आसपास होना। खुद को मिटा देने वाला.....राजीव उसी उधेड़बुन में उलझा हुआ है।

"यह क्या? चाय लीजिए ना। ठंडी हो रही है। हम तो कब के पी चुके।"

"मैं चलता हूं अब।"

"शाम का खाना यहीं पर है ना?"

"कुछ खास है क्या?"

"मटर समोसे बनाने वाली हूं।"

"देखूंगा।"

"देखूगां नहीं। आना ही होगा।"

"अच्छा!"

"अच्छा नहीं। प्रॉमिस कीजिए।"

"शनिवार आधा दिन। पूरा रविवार और सोमवार की आधी सुबह, इतना रहना काफी नहीं है।"

"क्या रखा है जुहू में? बस छत की तरफ देखकर सिगरेटें फूंकते रहिए।"

मृदुला ने सिगरेट का जिक्र किया। और राजीव को सिगरेट पीने की तीव्र इच्छा हुई। शनिवार से उसने पी नहीं है। मृदुला का कायदा है। श्याम भी घर में पीता नहीं है। मृदुला बच्चों के सामने यह सब चाहती नहीं है। श्याम बुदबुदाता है, लेकिन उसकी बात मानता है। उसका कहना है कि इस तरह बात मानने से भी सुख मिलता है। वह कई बातें मृदुला के लिए करता है जो उसे पसंद नहीं है। कोई अधिकार से अपने लिए कुछ करे, कुछ मांगे, क्या इसी लेन-देन के लिए सारा प्रपंच खड़ा करना है? राजीव इस भावना को नहीं जानता। उसे उसने स्पर्श नहीं किया हुआ। लेकिन जब से वह यहां आने लगा है, वह उसे निभाता आया है। श्याम के लिए, मृदुला के लिए। उनके उस छोटे से घर के लिए। घर न बसाने वाला, चौखट, सहवास और सहवास के वह स्पर्श नकारने वाला यह मनस्वी इंसान कहीं झुकता है। खुद के न चाहते हुए भी। लेकिन इसमें अंदर गहराई में कहीं कुछ महसूस होता है। और उसमें एक अनोखी खुशी उसे मिलती है। जो पहले कभी नहीं मिली थी, दिखाई तक नहीं दी थी।

डेढ़-दो दिन से पहना हुआ यह भेस उतारकर वह उस फ्लैट पर लौटता है। सबसे पहले सिगरेट जलाकर उसका जी भर कर कश लेता है। फिर बोतल से ..... फिर रमोला को फोन। उसके घर या राजीव के या फिर कहीं और मिलना। अब उन मुलाकातों में पहले जैसी उत्सुकता नहीं रही। कभी लगता है कि रमोला से मिलने में उसे अब कोई रस ही नहीं रहा। शनिवार, रविवार के बाद आया हुआ यह ढलता सोमवार, उसका बाकी दिन खत्म नहीं हो रहा, भारी-भारी-सा लग रहा है। आज मृदुला ने समोसों की दावत पर बुलाया है। लेकिन वह उनमें ज्यादा उलझना नहीं चाहता। अपना संतुलन खोना नहीं चाहता। उसी में से उत्पन्न यह रस्सी-खेंच। यह हां या ना का आधा-अधूरापन।

आजकल यह बहुत होने लगा है। मृदुला की गृहस्थी के सारे कोमल स्पर्श उसे धीरे-धीरे छूने लगे हैं। एक जिप्सी की तरह उसकी जिंदगी। बेताल, अनिर्बंध। कहीं टिककर रुकने का मन ही नहीं किया, न कहीं अपना कोई ठिकाना बनाने का। अपना कोई आसरा, आशियाना कभी चाहा ही नहीं। स्थिर, सुरक्षित जीवन की मांग कायरता लगी। खुद से, खुद के उस कलकल करते उन्माद के साथ कुछ ज्यादा ही ईमानदार रहने का वह प्रयास।

अब उम्मीद के सारे पन्ने उलट चुके हैं। और अब पहले कभी न देखी हुई असुरक्षा की भावना सामने आने लगी है। जी घबराता है। अकेलापन असह्य होने लगा है। लगता है, पकड़कर रखने के लिए कोई आधार होना चाहिए। जिंदगी से जैसे उसकी रीढ़ की हड्डी किसी ने छीन ली है।

अब उसकी ऐंठ झुकने लगी है। डगमगाने लगी है। ऐसा लगने पर वह चाय पर चाय पीने लगता है और सिगरेट पर सिगरेट। और फिर रमोला के पास चला जाता है। लेकिन इन दिनों राजीव देख रहा है, महसूस करने लगा है कि वह बार-बार श्याम-मृदुला के पास जाना चाहता है। भरपूर तनख्वाह कमाने वाला आदमी वहां उमड़कर बाहर गिरने वाला सुख वहां से इकट्ठा करता है। उस चालनुमा घर से, जहां विशाल अधूरापन अपने पांव जमाकर खड़ा है।

शुरू में कोई घर न बसाना, चौखट में बंदिस्त होना, नकारना उसे साहसपूर्ण लगा था। उसका अनिर्बंध अलगपन उसके मन को भा गया था। उसके मन में कहीं कोई चुभन थी। एक ही तो भाई था उसका जो शादी होते ही घर से अलग हो गया। मां की टूटती हुई अपेक्षाएं, उनके चिथड़े। घर बांधकर भी उजड़ा हुआ, निर्जीव-सा लगने वाला, गुमसुम। रुके हुए पानी की तरह। उसकी सीलन से भरी गीली दीवारें उसके मां-बाप अपनी सूखी लकड़ी की-सी उंगलियों से और किरकिरी नजर से छूकर देखते। मन ने जब उन दीवारों से नाता तोड़ा तब उसके पीछे कहीं यह भी था। भाई की कोई संतान नहीं हुई थी। मां विरासत, घराने का नाम जैसे शब्दों को दोहराती रही लेकिन उसकी नजर में वह सब व्यर्थ था। मैला था। शादी, अपेक्षा, बच्चा....जैसी पुनरावृत्ति वह नहीं चाहता था। ऐसे ही किसी बेताब लेकिन उत्कट सच्चाई के क्षण देह ने घोंसले को ना की। तेज-तर्रार मन ने उस वक्त उसका पूरा साथ दिया। उस 'ना' का स्पर्श अनोखा था। तब उसे लगा कि वह उसे प्यार से संभालकर रखे, उसका दुलार करे। कभी रुकने का, स्थिर होने का मन होगा, यह उसे कभी लगा ही नहीं।

अगर वह हां करता तो उसके लिए लड़कियों की कमी नहीं थी। वे कहता तो वे उसके लिए रुक भी जातीं। लेकिन वह किसी में उतना इंवॉल्व नहीं हुआ और न किसी को उसने अपने लिए रोका।

मां के शौक से रखे हुए राजीवलोचन नाम से जैसे 'लोचन' उसने मिटा दिया है उसी तरह कुछ मांगने वाले, चुनौतीपूर्ण, पुकारने वाले जीवन को मिटाते हुए वह बढ़ता रहा है।

अब यह खालीपन उसे कचोट रहा है। तंदुरुस्ती की भी छोटी-मोटी शिकायतें शुरू हो गई हैं। खाना हजम नहीं होता। किसी उत्कट क्षण में सब कुछ ठुकरा दिया था लेकिन उससे पैदा हुआ खालीपन किसी चीज से भरा नहीं गया। एक तरह से तो रिक्त होता गया, खुलता ही गया। शादी न करने वाले, घर न बसाने वाले कई होते हैं लेकिन इन चार दीवारों के एवज में उनके पास अपना कुछ खुद के लिए ढूंढ निकाला हुआ होता है, अपने इर्दगिर्द खड़ा किया हुआ कोई शौक, कोई लगन, कोई जुनून। लेकिन है तो वह एक आम इंसान ही। न जाने किस झंझावात की चपेट में वह आ गया था, पर अब जिंदगी ढलने लगी है और कहीं ठहर जाने का मन हो रहा है। सच तो यह है कि अब उस पहले वाली ऐंठ से गुलाबी वर्क उड़ चुका है। उसका प्यार-दुलार खत्म हो चुका है। पहले लगता था, शरीर की भूख मिटने से बात खत्म हो जाती है। अब वह भूख उतनी तीव्रता से लगती ही नहीं। किसी नाजुक, कोमल छुअन के लिए मन तरस रहा है, लड़खड़ा रहा है।

ऐसे ही किसी नाजुक मोड़ पर, उसे श्याम-मृदुला मिले हैं—और उनका वह संसार। मृदुला के यहां आने पर जैसे जिंदगी में जान आ जाती है। अपनी छोटी-सी गृहस्थी में तन-मन से जुटी हुई, अपनी तरफ बिल्कुल बेफिक्र रहने वाली मृदुला उसे बहुत अच्छी लगती है। उसकी गृहस्थी अच्छी लगती है। श्याम अच्छा लगता है। सीधा-सादा दो कमरों का मकान। पलंग पर ठीक-ठाक चादर बिछाकर बनाया हुआ दीवान। पुरानी लेकिन अच्छी-सी चार कुर्सियां, पुरानी साड़ी के बनाए हुए पर्दे, रात और दिन की तरह उलट-पलटकर आने वाली मृदुला की वही दो साड़ियां, पहली बार जब वह श्याम के साथ यहां आया था तब उसे कहां लगा था कि वह इस कदर इस घर से जुड़ जाएगा।

घर छोड़े अर्सा हो चुका था। फिर भी मृदुला के दिए नारियल और सूजी के लड्डू, मक्खन के साथ दिया गया थाली पीठ मां की याद ताजा कर जाता। टूटे हुए सारे संदर्भ फिर जुड़ जाते। डंक मारते। चिथड़ों की अवस्था में होते हुए भी।

न जाने कब, मन भावुक हो उठा! श्याम के साथ, कभी-कभी तो उसकी अनुपस्थिति में भी, उसके घर की तरफ कदम मुड़ने लगे। वहीं पर रुकने लगे। संतुलन बिगड़ने लगा।

जब वह सब दूर हटा दिया था तब उसमें छोटी-छोटी चाहतें भी हट गई थीं। उनका वह अच्छा लगना अब महसूस हो रहा है। उस घर का सीधा-सादा घरपन ही मन को बांध लेने लगा है। बार-बार नहीं जाऊंगा। उलझते धागों को अलग कर लूंगा जैसे निर्णय ले-लेकर भी कदम वहीं ले जाते हैं। अब दफ्तर बंद होने के बाद भी वहीं जाने का मन हो रहा है।

लेकिन वहां की वह सुबह तो उखड़कर कहीं चली गई है। वातावरण में तनाव है। कहीं कुछ गड़बड़ है। रो-रोकर मृदुला की आंखें सूजी हुई हैं। राजीव को देखकर वह संभल जाती है। वह बिखराव, असहजता संभालने की कोशिश करती है।

"क्या हुआ? समोसे खत्म हो गए?"

"बनाए ही नहीं।"

"और मुझे बुलाकर जो रखा था।"

"हां, आपके दोस्त ने हमारा मूड ही खराब कर दिया।"

"क्यों? क्या हुआ?"

"ऐसे ही।"

"फिर भी।"

"आप हंसेंगे। वैसे खास कुछ नहीं है।"

"लीजिए। जो सुनकर मैं हंस पड़ूंगा ऐसी बात सुनकर आप रो सकती हैं? हद हो गई!"

"यही इस घर का रोना है, राजीव भाई, आप नहीं समझेंगे। अच्छा है जो आप इस तरह आजाद, मस्त हैं.... ।"

"अगर बता सकती हैं तो बता दीजिए।" राजीव कुछ दुखी हो गया है।

वैसे मृदुला ठीक कह रही है। यहां के सुंदर दुख के काले मोती चुनने के लिए भी शायद मैं असमर्थ हूं। सुख की संवेदना तो मुरझा ही गई है। शायद दुख भी बिना मिलावट के मेरे हिस्से नहीं आ सकता। हाथ आते हैं सिर्फ छिलके।

"नंदिनी ने नाटक में हिस्सा लिया है। उसे किसी खास ड्रेस की जरूरत है। बच्ची आते ही उत्साह से कुछ कहने लगी तो यह महाशय बस उस पर बरसने ही शुरू हुए। इस वक्त इतने रुपये कहां से आएंगे? वगैरह-वगैरह। अब आगे-पीछे कुछ जुगाड़ भी तो किया जा सकता है। और आराम से बात समझाई जा सकती है। बच्चों का उत्साह इस तरह भंग करने का क्या फायदा? फिर क्या मेरा भी पारा चढ़ गया।"

राजीव देखता रह जाता है। एक ड्रेस का दाम जो वह किसी भी क्षण जेब से निकालकर फेंक सकता है, बल्कि फेंकता रहता है वह न जाने कैसे इस तरह एक समस्या का रूप धारण कर लेता है यहां! यह छोटे-छोटे गड्ढे भरने में जिंदगी कितनी आराम से गुजर भी जाती है। जीवन को अर्थ देने वाले ये नन्हे-नन्हे पंख जीवन को अनिवार्यता बहाल करने वाले, ये नाजुक क्षण मुझे कभी क्यों नहीं मिले? उनके मिलने के रास्ते पर मैं कभी चला ही नहीं। मृदुला ठीक कहती है। यह इस घर का, इस चारदीवारी का रोना है। यह मैं कभी नहीं समझ सकूंगा। क्योंकि यह चारदीवारी मैंने कभी खड़ी नहीं की अपने इर्दगिर्द।

"समोसे मैं फिर कभी बनाऊंगी। आज अब आए हैं तो खिचड़ी-साग खाकर जाइए। आपके पसंद की बड़ियां और मिर्च भी तली हुई हैं।"

मृदुला अब तक काफी संभल गई है। श्याम भी आता है। दोनों एक-दूसरे से बात नहीं कर रहे। बहुत जरूरी हो तो राजीव को बीच में लेकर बात करते हैं। उनके बीच का वह तनाव, कुट्टी, श्याम की नजर टालने का असफल प्रयत्न और मुझे कोई परवाह नहीं है भाड़ में जाओ मेरी बला से—ऐसे ऊपर से जताते हुए मन ही मन भावुक हुआ श्याम. .....यह सब वैसे रोज का ही हंगामा है। लेकिन राजीव को जैसे अभी-अभी दृष्टि मिली है। एक छोटा-सा बच्चा जैसे नई-नई नजर से हर चीज देखता है वैसे ही राजीव देख रहा है। उसे चिकोटी में पकड़ने की कोशिश कर रहा है। ये सभी नाजुक, कोमल स्पर्श देखकर उन्हें उलट-पलट देखने का नया शौक उसमें पैदा हुआ है।

"आपने एक ही बार खिचड़ी ली?"

"वह समोसे के लिए आया और तुम उसे खिचड़ी पर टरका रही हो।'

"इस शनिवार को जब वह आएंगे तो मैं समोसे बनाऊंगी। आज तुम ने ही मेरा मूड खराब किया।"

मृदुला की हर नस तनी हुई नजर आ रही है। अब शायद वह रो पड़ेगी। और सच ही आंसू टपटप प्लेट में टपकने लगते हैं। अब श्याम की भी हालत खराब होने लगी है।

उनसे विदा लेकर राजीव वहां से निकलता है, जैसे बहुत कुछ खोया हो। मन में जो खालीपन है वह और गहरा होता है और चौड़ा भी। कभी न मिली हुई यह भावुकता उसे समझ ही नहीं आती। और इस तरह की काटा-पिटी में जो सामने आता है, उसे झेलना इतना आसान नहीं होता।

और फिर उसे लगता है कि क्यों न वह नंदिनी को वह ड्रेस खरीदकर दे दे। इतनी बार मैं उनके घर जाता हूं, खाता-पीता हूं। आज तक मुझे ऐसा क्यों नहीं लगा कि मुझे बच्चों के लिए, इस घर के लिए कुछ करना चाहिए? कितने दिन हो चुके हैं, जब पहली नौकरी मिली थी तब मां के लिए एक साड़ी खरीदी थी। वह छोटा-सा सुख अब बहकर न जाने कहां चला गया है। आज इतने दिनों बाद महसूस हुआ कि नंदिनी को ड्रेस ला दूं। अमोल को रंगों के ब्रुश—मेरे ही सामने उसने न जाने कितनी बार श्याम से कहा है। मृदुला भी अदल-बदलकर वही दो साड़ियां पहनती रहती है। उसके लिए साड़ी। उनके चाय के कप भी बहुत खराब हो चुके हैं। परसों जब घूमने गए थे तो मृदुला कितनी ललक से उस टी-सेट को निहार रही थी। पुरानी साड़ी के उन घिसे पर्दों की जगह नए पर्दे—यह सब मैं क्षण मात्र में खरीद सकता हूं।

राजीव चौंकता है। एक पैर भर जमाने के लिए, पल-भर के विश्राम के लिए एक आसरा चाहा और देखते ही देखते कितना कुछ खड़ा हुआ! चिड़ियां तिनका-तिनका जोड़ती है। वैसे यह सब जोड़ा गया। एक घर की, घोंसले की भावना के इर्दगिर्द लिपटे हुए ये सारे आवरण! क्या मैं ऐसे किसी अनचाहे व्यूह में प्रवेश कर रहा हूं? जहां से अभिमन्यु की तरह वापसी संभव नहीं है?

मंगलवार वह श्याम के घर जाता है। गौर से हर तरफ देखता है। सुलह, दोस्ती हो चुकी दिखाई देती है। कल के तूफान का कहीं नामोनिशान नहीं है। मृदुला भी फिर खिल उठी है। कल की लड़ाई दोनों भूल चुके हैं। नन्ही नंदिनी भी भूल गई है। ड्रेस, नाटक सब कुछ। आज के दिन के रंग और हैं। कल के कुछ और थे। आने वाले कल के शायद कुछ और हों। कोई एक दूसरे जैसा नहीं है। मेरे जैसे सपाट, वही अनुभव नहीं हैं। और कभी हों भी तो उन्हें भोगने का हर रोज का नजरिया अलग है। यहां का दुख भी सुंदर है और सुख भी। हर दिन बल्कि हर पल यहां नया कुछ लेकर आता है और इस जीवन को एक अनोखा अर्थ दे जाता है। यहां का बनता, झगड़ता, बहता स्पर्श कितने नाजुक, सुंदर क्षणों को जन्म देकर जाता है!

उसके अलीशान फ्लैट की वह उदास खाली छत, सिगरेट का धुआं, रमोला की देह और बेडरूम से दिखाई देने वाला समुंदर इनमें से किसी की भी कोई गंध नहीं है।

वे दोनों कहीं बाहर जा रहे हैं।

"कहीं बाहर जा रहे हो?"

"हां, भाई! कल देवी जी नाराज हो गईं, आज जरा घुमाने ले जाता हूं।" यानी मैं जो नंदिनी को ड्रेस लेकर देने वाला था वह क्या शाम ही दे देगा? वह व्याकुल हो उठता है। लेकिन श्याम कहता है, "आज फरमान निकला है .....घर पर खाना नहीं बनेगा। बाहर दोसा खा लेंगे। मैने सारी शर्तें मान लीं। दोसा, गजरा, एवरीथिंग।"

राजीव की जान में जान आ जाती है।

वे दोनों उससे साथ चलने का आग्रह करते हैं, लेकिन वह नहीं जाता। यहां आकर उसे अच्छा लगता है। लेकिन खुद को लेकर एक अजीब-सी कुंठा जरूर अनुभव होती है। लगता है, वह यहां से कहीं दूर भाग जाए।

"अरे, राजीव भाई। मैं तो आपको बताना भूल ही गई। उसमें तीन-चार से चूजे निकल चुके हैं। और मैं पागल उन्हें उठाकर फेंकने जा रही थी।"

राजीव को तो वह घोंसला याद तक नहीं है। वह झट से अंदर जाकर कॉफी बनाती है। साथ कुछ खाने के लिए ले आती है।

वह मना करता है लेकिन दोनों बहुत आग्रह करते हैं।

वह घर लौट आता है और मुरझाया-सा पड़ा रहता है। क्या चाहिए, क्या चाहिए था? कुछ समझ ही नहीं आ रहा। वह सोच लेता है कि नंदिनी के लिए ड्रेस खरीदेगा और मृदुला के लिए साड़ी। फिर उसे अच्छा लगने लगता है। किसी के लिए उसे कुछ करना है, इस बात का एहसास उसे सुखद लगता है।

जाना शनिवार को है लेकिन ड्रेस और साड़ी वह बुधवार को ही खरीद लेता है।

साड़ी कौन-सी खरीदे, यह उसे समझ नहीं आता। दुकानदार ही पूछ लेता है, "कैसी चाहिए? टेरिन, फुलवॉइल, शिफॉन!"

ये सब नाम भी उसके लिए अपरिचित हैं। ऐसी साड़ियां शायद रमोला पहनती है। उसे भी साथ लाना चाहिए था।

उसकी वह अनिश्चितता देखकर दुकानदार कहता है, "मैडम को आप साथ ले आइए।"

वह चौंकता है। संभलकर कहता है, "इन दिनों जो लैटेस्ट फैशन है उसी में से दे दीजिए।"

साड़ी और नंदिनी की ड्रेस का पैकेट लेकर वह घर आ जाता है। कुछ सोचकर शनिवार तक रुकने का निर्णय लेता है। बीच में जाने का मन करता है लेकिन वह नहीं जाता। यह शनिवार उसको खास पसंद है। इसकी गंध ही अलग है इसीलिए मृदुला को साड़ी देने के लिए वह शनिवार ही तय करता है।

शनिवार को वह हमेशा से बहुत पहले मृदुला के घर जाता है। श्याम घर पर ही है।

"मृदुला कहां है? और नंदिनी!"

"भाई, यहां मूड आऊट है। तेरे समोसे-आज भी इंतजार करते रहे।"

"समोसे रहने दे। मैं तो भूल ही गया था। लेकिन अब क्या हुआ?"

"बेकार की बात। वह चिड़िया अपने चूजों को लेकर न जाने कहां चली गई या हो सकता है वह घोंसला किसी ने गिरा दिया हो। बरामदा साझा जो है। लेकिन इसमें हाय-तौबा की क्या बात है? यह उन्हें दाना डालती थी, तो उन्हें भी कुछ लगना चाहिए था। अब न लगा, तो क्या करें? मैंने कहा, छोड़ दो, भूल जाओ। यहां तो मूड खराब होने के लिए रोज नई वजह मिलती है।"

राजीव दंग रह जाता है। इतने-से घोंसले के लिए यह रो रही है! उसे यकीन नहीं आता।

"नंदिनी कहां है? यह देखो, मैं क्या लाया। नंदिनी के लिए नाटक वाली ड्रेस।" नंदिनी घर पर नहीं है, यह श्याम को ही दिखाता है।

"और यह मृदुला के लिए साड़ी। मुझे साड़ियों की कोई समझ नहीं है।"

श्याम उठकर बैठ जाता है। अचंभित।

"अरे, लेकिन यह सब किसलिए?"

"बस! यों ही मुझे लगा, इसलिए।" वैसे वह बहुत कुछ कहना चाहता है, बताना चाहता है, लेकिन उसे शब्द नहीं मिल रहे। इतने में मृदुला उत्साह से बुदबुदाती आती है, "सुनो, चूजे मरे नहीं हैं। वहां उस चिड़िया ने दूसरा घोंसला बना लिया है। ये पड़ोस के बच्चे बड़े शरारती हैं, उन्होंने उसे जरूर छेड़ा होगा।"

"पागल, लेकिन वह यही चिड़िया है, इसका क्या यकीन?"

"वही है। मैं देखती जो रहती हूं हर रोज। उन सबको मैं अच्छी तरह पहचानती हूं, समझे।"

अब कहीं वह राजीव की तरफ देखती है।

"कब आए? और यह क्या? यह किसकी साड़ी है?"

"तुम्हारे लिए ले आया है.....और वह ड्रेस नंदिनी के नाटक के लिए।"

"मेरे लिए। उफ्फ! इतनी कीमती किसलिए? और यह है किसलिए?"

राजीव की आवाज भारी हो जाती है।

'किसलिए? यह तो मैं नहीं जानता। बता भी नहीं सकता। इस घर के लिए, यहां के लोगों के लिए कुछ करने का मन हुआ.....मैं लगभग रोज यहां आता हूं, खाता-पीता हूं.....!'

राजीव रुक जाता है। जो वह कहना चाहता है वह यही नहीं है, यहां मिलने वाले अमूल्य क्षणों का यह कोई मूल्य नहीं है। वह इससे अधिक कुछ और है। सबकी तरफ पीठ फेरी थी। आज वह गुजरा हुआ सब कुछ फिर सामने आया है। उस वक्त सब त्याग दिया था। वह भावना भी सच्ची थी। और अब यह इस तरह घुलमिल जाना, भावुक हो उठना भी उतना ही सच है। चिड़िया के घोंसले के टूटने पर रोने वाली मृदुला और मुझमें कोई फर्क नहीं है।

यह सब कहना चाहते हुए भी कुछ न कहकर वह गुमसुम बैठा रहता है। दोपहर धीरे-धीरे ढल रही है। एक भावुक गंध की लहर ओढ़कर एक मासूम लेकिन सच्ची शाम सामने खड़ी हो जाती है। और उस क्षण राजीव को तीव्रता से अहसास होता है कि जो घोंसला उसके शरीर ने जिद करके लौटाया था उसे मन कब का स्वीकार कर चुका है। उसी क्षण से जब से मृदुला के घर की सभी समस्याएं उसे अपनी लगने लगीं। उस सुंदर घोंसले के इर्दगिर्द थिरकने वाले नन्हे, कोमल, नाजुक स्पर्श का इंसान कैसे अस्वीकार कर सकता है? कम से कम उसके जैसा सामान्य आदमी ऐसा कैसे कर सकता है! ❑

वार्षिक ग्राहकों से

वितरण संबंधी समस्याओं के लिए पत्र लिखते समय कृपया अपनी ग्राहक संख्या का उल्लेख अवश्य करें।

दस्तावेज

धूमिल : कुछ छूटे हुए संदर्भ

छायावाद के बाद की कविता पर शोधकार्य करते हुए **शिवकुमार मिश्र** *ने एक ऐसे संकलन की योजना बनाई थी, जिसमें उस दौर के सभी महत्वपूर्ण कवियों को शामिल किया जाना था। इस दौरान धूमिल से हुए पत्र-व्यवहार में लेखक को कुछ कविताएं और एक 'आत्मकथ्य' मिला था। प्रस्तुत है संभवतः अब तक अप्रकाशित इस आत्मकथ्य के बहाने धूमिल का एक मूल्यांकन।*

सन् 1962-63 की बात होगी। उस समय मैं सागर विश्वविद्यालय हिंदी विभाग में प्रवक्ता था। छायावाद के बाद की कविता पर शोध कार्य करने के नाते नई रचनाशीलता के प्रति स्वभावतः मेरे मन में लगाव था। एक दिन मन में एक योजना उभरी कि ऐसे दस नए रचनाकारों की चुनिंदा कविताएं उनके आत्मकथ्य के साथ, एक ही संकलन में प्रकाशित की जाएं, जो ख्यात तो हो चुके हों किंतु जिनका कोई स्वतंत्र संकलन या एक से अधिक संकलन प्रकाशित न हुए हों। काफी सोच-विचार के उपरांत मैं इस योजना को कार्यान्वित करने में जुट गया। उस समय जो रचनाकार मेरी निगाह में योजना में शामिल थे उनमें आज के ख्यात कवि केदार नाथ सिंह, राजकमल चौधरी, कैलाश वाजपेयी, धूमिल आदि-आदि थे। रचनाकारों से पत्राचार हुआ और मेरे पास अनेक रचनाकारों ने आत्मकथ्य के साथ अपनी चुनी हुई रचनाएं भेजीं थीं।

फिर यकायक न जाने क्या हुआ कि सारी योजना धरी की धरी रह गई। वर्ष पर वर्ष बीतते गए और मैं शनैः-शनैः सब कुछ भूल-सा गया। अभी कुछ समय पहले पुराने कागजों के अंबार में ऐसी कुछ रचनाएं मिलीं जो उस समय रचनाकारों ने भेजी थीं। रचनाएं जिन कागजों में थीं उनकी हालत इतनी खस्ता थी कि उन्हें संभालना मुश्किल था। यह भी पता नहीं चलता था कि कौन-सी रचना किस रचनाकार की है। संयोग ही कहिए कि धूमिल द्वारा भेजी गई चार कविताएं उनके आत्मकथ्य के साथ इकट्ठे मिल गईं। कागज इन रचनाओं का भी खस्ता हो चुका था परंतु रचनाएं उनमें यथावत अंकित थीं। जिस समय धूमिल ने ये कविताएं मुझे भेजी थीं उनका एक भी संकलन प्रकाशित नहीं हुआ था। मैंने धूमिल द्वारा भेजी गई इन चार रचनाओं का मिलान कालांतर में प्रकाशित उनके संकलनों की रचनाओं से किया। मेरे पास धूमिल के तीन काव्य संकलन थे—*संसद से सड़क तक, सुदामा पांडे का प्रजातंत्र* और डा. शुकदेव सिंह द्वारा संपादित *धूमिल की कविताएं*। जहां तक मेरी जानकारी है धूमिल के अब तक प्रकाशित यही तीन काव्य संकलन हैं। धूमिल ने जो रचनाएं मेरे पास भेजी थीं उनके शीर्षक हैं 'बसंत', 'एक आदमी', 'एकांत कथा' और 'सुबह गली में'। प्रथम तीन रचनाएं उनके पहले संकलन *संसद से सड़क तक* में संकलित हैं। यद्यपि मेरे पास उपलब्ध उनके हस्तलिखित रूप और *संसद से सड़क तक* में उनके प्रकाशित रूप में बुनियादी तौर पर कोई फर्क नहीं है फिर भी अपने पहले कविता संकलन में उन्हें प्रकाशित करते समय धूमिल ने कुछेक पंक्तियों में यत्किंचित संशोधन किया है भले ही यह संशोधन कुछ शब्दों के फेर-बदल तक ही सीमित हो। इससे स्पष्ट होता है कि धूमिल अपनी रचनाओं के प्रति कितने सजग थे और उनके प्रकाशन तक वह उनमें संशोधन किया करते थे। ('बसंत' कविता में मात्र एक शब्द का बदलाव है इसलिए वह कविता नहीं दी जा रही है — सं.) अंतिम रचना 'सुबह गली में' उनके उपर्युक्त तीनों संकलनों में मुझे नहीं मिली। संभव है वह कहीं छपी हो, किंतु मेरे देखने में नहीं आई।

जो 'आत्मकथ्य' धूमिल ने मुझे भेजा था, धूमिल अपने जिन तेवरों के लिए कालांतर में ख्यात हुए और जो उन्हें तमाम समकालीनों से विशिष्ट बनाते हैं, इस आत्मकथ्य में धूमिल उन सारे तेवरों के साथ हमसे मुखातिब हुए हैं। मेरी दृष्टि में धूमिल का यह आत्मकथ्य अपने बारे में उनका पहला बयान है। मैंने इस आत्मकथ्य को प्रकाशित रूप में कहीं नहीं देखा।

जो कुछ धूमिल का है और जिसे वह प्रकाशित करना चाहते थे उसे यकायक वर्षों बाद पा जाने पर अप्रकाशित रखना मेरे लिए एक नैतिक अपराध से कम नहीं है। मेरी अपनी स्थितियां तथा सीमाएं यदि उसे तब प्रकाशित नहीं करा सकीं तो अब तो उसे सबके सामने आ ही जाना चाहिए। धूमिल को जानने-समझने में उनके अध्येताओं को यदि इस सामग्री से कुछ मिल सके तो मैं संतोष का अनुभव करूंगा।

धूमिल से मेरे मेल-मुलाकात के क्षण बहुत स्वल्प हैं। दो-एक बार वाराणसी में, और एक-आध बार गया में दो-तीन दिन। मेरे लिए उनका 'मास्टर साहब' संबोधन आज भी मेरी स्मृति में ताजा है। मेरा और उनका जितना साथ और संबंध रहा, बहुत आत्मीय रहा। इस आत्मीयता के चलते ही मैं धूमिल से वह सब उपलब्ध कर सका, जो अब प्रकाशित हो रहा है। फिलहाल इतना ही।

एकांत कथा

मेरे पास उत्तेजित होने के लिए
कुछ भी नहीं है
न सेक्स की किताबें
(न कोकशास्त्र की किताबें)
न युद्ध की बात
न गद्देदार बिस्तर न टांगें
न रात—चांदनी
कुछ भी नहीं।

बलात्कार के बाद की आत्मीयता
मुझे शोक से भर गई है
मेरी शालीनता
मेरी जरूरत है, जो मुझे, बारहा
नंगा कर गई है।
(जो अकसर मुझे नंगा कर गई है)
जब कभी, जहां कहीं जाता हूं
देहों को
अचूक उद्दंडता के साथ छायाओं की ओर
सरकते हुए पाता हूं।
भट्टियां सभी जगह हैं;
हर जगह लोग सेंकते हैं शील
(सभी जगह लोग सेंकते हैं शील)
उम्र की रपटती ढलानों पर ठोंकते हैं —
जगह-जगह कील
कि अनुभव ठहर सकें
अक्सर लोग आपस में बुनते हैं गहरा
तनाव, वह शायद इसीलिए कि थोड़ी
देर ही सही मृत्यु से
उबर सकें
मेरी दृष्टि जब भी कभी
जिंदगी के काले कोनों में पड़ी है
मैंने वहां देखा है—एक अंधी ढलान
बैलगाड़ियों को पीठ पर लादकर
खड़ी है, जिन पर मंडराती है सड़ी हुई देहों की —
गंध।
वैसे यह सच है (जिनके व्यक्तित्व के सूखे कंकाल हैं)
सड़कों में होता हूं - बहसों में
बहता हूं (बहसों में होता हूं)
रह-रह चहकता हूं
लेकिन हर बार वापस घर लौटकर
कमरे के अपने एकांत में
जूते से निकाले गए पांव-सा
महकता हूं।

कोष्टकों में दी गई पंक्तियां **'संसद से सड़क तक'** में छपे पाठ में से हैं।

एक आदमी

(शाम जब तमाम खुली हुई चीजों को
बंद करती हुई चली जाती है
और दरवाजे पर
सिटकनी का रंग बरामदे के
अंधकार में घुल जाता है)।

जब मैं काम से नहीं होता
याने कि नहीं ढोता
आल्मारियों में बंद किताबों का विवेक
या हांफते हुए घोड़ों और फेन से
तर-ब-तर औरतों का गर्म ख्याल

मेरे पास एक आदमी आता है
जैसे किसी मकान में अपरिचितों के बीच
चल रहे हों (आप कल्पना करें)
अपनी उपस्थिति पर
अनायास खांसता हुआ
मेरे पास रोज एक आदमी आता है

वक्त के साथ बेचैनी से बीतता हुआ
वह एक मर्द है
उसके सूजे हुए चेहरे पर
मौसमों की अंगुलियां अलग-अलग
उभरी हुई हैं
उसकी नाक ऊंची है, बरौनियां
सटी हुई हैं
उसने एक मशीन पाल रखी है
जो उसे
चीजों का नीलाम करने में
मदद करती है

उसकी गरदन लंबी है उसे शक है :
किसी ने रास्ते भर उसका पीछा किया है

उम्र का सत्ताइस काल
उसने भागते हुए जिया है

उसके पेशाब पर चींटियां रेंगती हैं
उसके प्रेमपत्रों की आंच में
उसकी प्रेमिकाएं रोटियां सेंकती हैं
(अपनी अधूरी इच्छाओं में झुलसता
वह एक संभावित नरक है)[2]
वह अपने प्रति काफी सतर्क है
और जब जवान औरतों को देखता है
उसकी आंखों में
कुत्ते भौंकते हैं।

उसका विचार है कि उसके मरते ही मनुष्यता
अंधी हो जाएगी
उसे अपनी सेवाओं और शिश्न पर
गर्व है
(उसे अपनी सेवाओं पर
गर्व है।)[3]
देश से प्यार है
कुर्सी के हाते में उसकी हरकतें मुझे अच्छी लगती हैं
और अच्छा लगता है उसका झेंपता हुआ चेहरा
जिससे शालीनता
इतना ज्यादा टपक चुकी है कि वहां
एक तैरता हुआ पत्थर है
अपने परिवार का वह असफल 'ईश्वर' है
संभावनाओं में लगातार पहलू बदलता हुआ
अपनी पराजित और जड़विहीन
हंसी पर
अतीत और मानसून का
खोखलापन टांगता हुआ
जब वह हंसता है उसका मुख
धक्का खाई हुई रील की तरह
उदास फैल जाता है
मेरे पास रोज एक आदमी
आता है और मेरी डायरी में
चुपचाप बैठ जाता है।
(मेरी डायरी के अगले
पन्ने पर बैठ जाता है।)

सुबह गली में

बकरे की ताजी और टमकती हुई रान की तरह
आसमान की पट्टी पर
झूलती हुई सुबह।

बुझी हुई लालटेनों से लटके हुए चेहरों पर
कच्ची नींद जागने का एहसास
लहर मारता है

मैं इस संकरी गली में घुटनों तक आवाजों में
चल रहा हूं, जिसे होड़ ने अपनी मुट्ठी में
भर लिया है

एक लंबे अभ्यास के बाद
चीजें रोशनी में झिझकती हुई खुल रही हैं

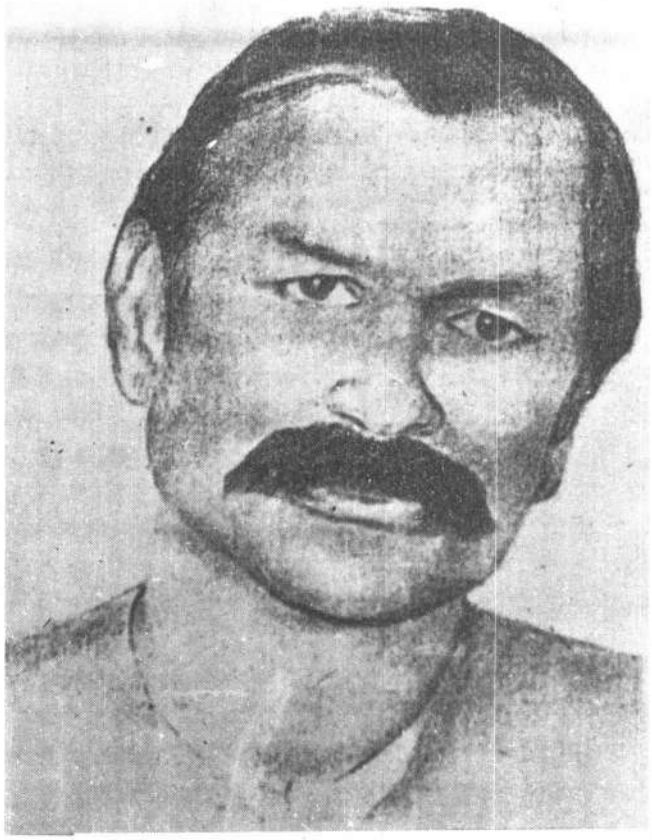
रात भर रौंदी हुई मादा शक्लों
जुगालियों और
मूत से भरे बिस्तरों के बावजूद
ठंडी हवा ने मकानों को बुहारकर
पास-पास इकट्ठा कर दिया है।

यह रात का संशय था या धूप का चौंधा
या पता नहीं क्या कुछ
जो मेरी बगल से झपाक से गुजरा है
और मोड़ तक पहुंचने के पहले ही
गहरे आतंक ने
मुझे दुस्साहस से भर दिया है। ❑

1. 'संसद से सड़क तक' में यह कविता इन पांच पंक्तियों से शुरू होती हैं।
2. व 3. बाद में जोड़ी गई पंक्तियां

आत्मकथ्य

धूमिल



मेरी इच्छा होती है कि मैं अपने बच्चों के साथ खेलूं, लेकिन हर बार मुझे लगा है कि मेरी हरचंद कोशिश के बावजूद मेरे बाप की आंखें उनके चारों ओर पहरा देती रहती हैं और मुझे वहां जाने से मना करती हैं—बिना कुछ कहे झिझकती हुई आत्मीयता भरी सतर्क उदासीन चुप्पी के द्वारा। मैं नीम के नीचे चारपाई घसीटकर पड़ रहता हूं और सुदूर अतीत में अपनी ही उम्र के एक युवक को छटपटाते हुए, बच्चों से दूर किसी चारपाई पर उतान लेटा हुआ पाता हूं। और अब मैंने समझ लिया है कि बच्चों की दिलचस्पी पिल्लों में क्यों है।

● ईमानदार रह सकने की शर्त बदकर गैर ईमानदारी का जिस्म खराब करना, मुझे पसंद नहीं। अतः ईमानदार होने की अपेक्षा संगत होना मेरे लिए अधिक सहज है। आप वही चुनें जितना आपके लिए आवश्यक है। अपनी शर्म के नीचे अपमानित होने के लिए अपने को छोड़कर भागना और सजा सुनते वक्त कानों को बंद कर लेना, बचने की सही तरकीब नहीं है।

● शैली संपन्नता का ही दूसरा नाम है। और रचना की नाप-जोख रचना के संदर्भ में करना या सुंदर की तलाश में 'कम जरूरी' को भी अनायास ग्रहण करना, उस व्यवस्था को चलाते रहने के लिए तेल-पानी का इंतजाम है, जो गुलाम बनाने वालों का समर्थन करती है।

● प्यार या फटकार से कुत्ते को पालतू बनाया जा सकता है लेकिन आदमी—मुझे खुशी है कि, वह उसके लिए कोई आश्वासन नहीं देता बावजूद इसके कि तेज गर्मी लगने पर भी वह अपनी जीभ भरसक, मुंह में अंदर ही रखने की कोशिश करता है। क्या आपने उसकी लड़ाई का यह नया नमूना देखा कि किस तरह वह गलियों में अदब से खड़ा है और अपनी घृणा में भी मुस्कुराता रहा है।

● 'कफन' कहानी के उन दोनों का क्या हुआ, जो गाते-गाते बुत होकर नाली में गिर पड़े थे? मरा हुआ बच्चा जनते वक्त मरी हुई उस औरत का क्या हुआ? कफन मिला उसे? ढकने का काम समूह पर छोड़कर अपनी भूख (विवशता) के नीचे दब गए निकम्मे प्राणियों का प्रतिशोध अपने ही लोगों के बीच एक ऐसा वाकया है जो मुझे अक्सर कांटों में घसीटता है और मैं लोगों से अजनबी हो जाने के डर से नंगा होते-होते बच रहा हूं।

● एक सच्ची बात कितनी भयानक हो सकती है इसे यूं समझा जा सकता है कि आदमी को सुविधाओं का हत्यारा कहकर उसे अकेला और बेमानी घोषित कर दिया गया है, जिसने झूठ के खिलाफ पहली लड़ाई लड़ी थी। लेकिन सिर्फ घाव दिखाने के लिए पीठ दिखलाना साहस का दिवालियापन नहीं है।

● मेरे मन में बात उठती है कि किसी तरह यह पृथ्वी निकम्मे लोगों से खाली कर दी जाए। फिलहाल यह काम तब तक के लिए रुका हुआ है जब तक राजनीतिज्ञों, धर्मचेताओं, दार्शनिकों और अध्यापकों को बाकायदा रखने के लिए कोई संग्रहालय तैयार नहीं हो जाता।

● सुविधाओं के पीछे गिरे हौसले का नाम अवसरवाद है। उसके घुटने फूट गए हैं लेकिन आप उन्हें देख नहीं सकते। उन पर अच्छी तरह इस्त्री किए गए कपड़ों की सुख-पट्टियां बांध दी गई हैं। उसकी आंखों की सतर्कता उसके चश्मे की गिनतियां पोसती है। उसकी जिंदगी एक ऐसे फोड़े की तरह है जिसमें रोज मवाद भर जाता है, हीनता का मवाद जिसे वह अपनी खुशामद की खपच्चियों से खोदकर बाहर निकालता है और हल्का होता है। शालीनता उसे नंगा करने वाली जरूरत है।

● पेड़ और पहाड़ों पर आंख पड़ते ही, जिनके खून की रफ्तार बढ़ जाती है, उन प्रकृति प्रेमियों से निवेदन है कि अपने आमाशय की जांच करवाएं। निथरे हुए दृश्यों की पथरी से किडनी में घाव हो सकता है। और सच यह भी है कि आम रोगों से मरने पर साहित्य की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि तैयार करने में ऐसी मौतें कोई हिस्सा नहीं लेतीं। आलस्य की असंग निर्ममता से देश के दुर्लभ अन्न पर पली काय-श्री का इससे विकट इस्तेमाल और क्या हो सकता है!

● और रचना—वह मेरे निकट पड़ोस की पहचान है। पड़ोस की पहचान अपनी सुरक्षा के संदर्भ में। रचना प्रक्रिया चेहरा नहीं है और न तो चेहरे से पलायन है बल्कि एक चेहरे की सही चेहरे में वापसी है।

जन्म : 9 नवंबर 1936; वाराणसी जिले के खेवली गांव में

अध्ययन : बिजली संबंधी कार्यों की जानकारी का डिप्लोमा औ.प्र. केन्द्र बी.एच.यू. वाराणसी से।

जीविका : नौकरी

अरुचि : बैठना, खुशामद, काव्य चर्चा।

आदतें : बहस, भोजन, अपने आसपास की बेमेल फूहड़ चीजों को देखना। गालियों को सही स्वर देना।

मृत्यु : अनिश्चित किंतु दिन में सैकड़ों बार।

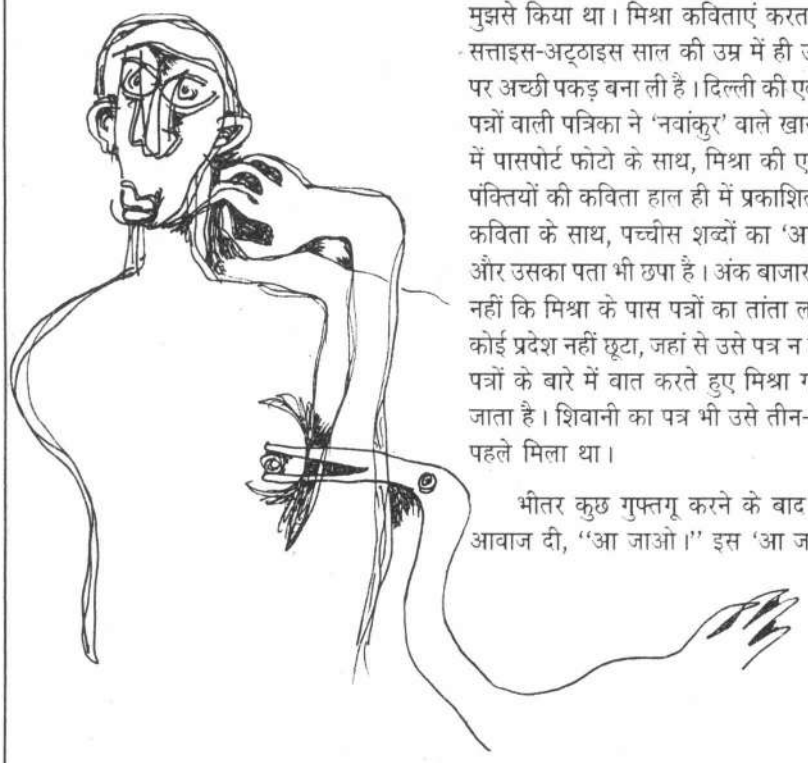
❑

कहानी

मुलाकात

हरिओम राजोरिया

रेखांकन : राजेंद्र गायकवाड़



"आप लोग यहीं ठहरिए। मैं पता करके आता हूं।" यह कहकर, मामा एक पीले रंग से पुते मकान में घुस गया। हम दोनों बाहर ही खड़े रहे।

मिश्रा हताश हो गया, कुछ देर पहले, जो उसकी गर्दन अकड़ी हुई थी, उसमें बल पड़ने लगे। हम दोनों दरवाजे की तरफ देखते रहे।

मिश्रा की डायरी में जो पता था, उसे ढूंढने में बहुत परेशानी हुई थी। कॉलोनी में घंटा-भर तक घूमना पड़ा। किस नंबर का मकान कहां है? खोज पाना मुश्किल था। पहली बात तो मकानों पर नंबर ही नहीं लिखे थे और जिन थोड़े-बहुत मकानों पर लिखे थे, उनमें भी कोई क्रम नहीं था। बहुत पूछताछ करने पर मकान मिला, पर भीतर पता करने पर मालूम हुआ—शिवानी यहां नहीं रहती। इस पते पर तो केवल उसके पत्र आते हैं। शिवानी ने अपने नाना के घर का पता मित्र को लिखा था। यहां तक जो हमें पहुंचाने आया था, वह शिवानी का छोटा वाला मामा था।

हम एक विवाह में सम्मिलित होने इस शहर में आए थे। मिश्रा ने सफर में ही शिवानी का जिक्र मुझसे किया था। मिश्रा कविताएं करता है और सत्ताइस-अट्ठाइस साल की उम्र में ही उसने मंच पर अच्छी पकड़ बना ली है। दिल्ली की एक चिकने पत्रों वाली पत्रिका ने 'नवांकुर' वाले खास कॉलम में पासपोर्ट फोटो के साथ, मिश्रा की एक चौदह पंक्तियों की कविता हाल ही में प्रकाशित की है। कविता के साथ, पच्चीस शब्दों का 'आत्मकथ्य' और उसका पता भी छपा है। अंक बाजार में आया नहीं कि मिश्रा के पास पत्रों का तांता लग गया। कोई प्रदेश नहीं छूटा, जहां से उसे पत्र न मिले हों। पत्रों के बारे में बात करते हुए मिश्रा गद्‌गद् हो जाता है। शिवानी का पत्र भी उसे तीन-चार दिन पहले मिला था।

भीतर कुछ गुफ्तगू करने के बाद मामा ने आवाज दी, "आ जाओ।" इस 'आ जाओ' को सुनकर मिश्रा की आंखें चमक उठीं। हम झिझकते हुए दरवाजे तक पहुंचे। मिश्रा ने कुहनी मारते हुए मुझे भीतर ठेल दिया।

कमरा छोटा था। एक बच्ची बोल-बोलकर अपना पाठ याद कर रही थी। हमें देख उसने खड़े होकर नमस्ते की। मैं कुछ ठहर-सा गया। बच्ची की आंखों में भोलापन और अजीब आकर्षण था। मुझे तिरछी नजरों से घूरते हुए मिश्रा मामा के साथ अंदर घुस गया।

"आप लोग बैठिए। शिवानी अभी आती है," कहते हुए एक अधेड़ महिला ने हमारा स्वागत किया।

यह बैठक वाला कमरा होगा, जो बाहर वाले कमरे से दो गुना बड़ा रहा होगा। कमरे की सजावट सामान्य थी। एक पलंग और सामने टीन की चार कुर्सियां पड़ी थीं। मिश्रा उन्हीं में एक कुर्सी पर जम गया। महिला और मैं पलंग के विपरीत छोरों पर बैठ गए। हमें छोड़कर मामा लौट गया था।

शिवानी जब रसोई से निकलकर आई, तो मिश्रा की आंखें सिकुड़ गई। पता लगाना मुश्किल था कि इन आंखों में अविश्वास है या अपनी कल्पित कृति के मूर्त हो जाने की प्रसन्नता। अभिवादन की औपचारिकता में जब खड़े हुए, तो उसकी आंखों में हल्की-सी चमक दिखाई पड़ी, जो धीरे-धीरे गहरी और स्पष्ट होती गई।

"मैं राम. एल. मिश्रा, आपने मुझे पत्र दिया था। यहां शादी में आए थे तो सोचा, आपसे मिलते चलें।" मिश्रा ने दूसरी बार परिचय दिया।

"ये मेरे मित्र, इंजीनियर हैं।" उसने मेरी ओर संकेत किया। मेरे लिए यही काफी था कि मैं इंजीनियर हूं और मिश्रा मेरा मित्र है, उसने मेरा नाम बताने की जरूरत नहीं समझी।

मिश्रा का पूरा नाम रामलखन मिश्रा है, पर उसने अपने नाम के 'लखन' को विलुप्त करके, उसके स्थान पर अंग्रेजी का 'एल' रख दिया है। फैशन का फैशन, ऊपर से संक्षिप्तीकरण! कविता हो या जीवन, हर जगह नित नए प्रयोग करते रहना मिश्रा का शगल है।

शिवानी दुबली-पतली लड़की थी। आंखें बड़ी-बड़ी और इस वक्त उनमें थकान थी। थोड़ी देर में ही मिश्रा ने उसकी प्राथमिक जानकारी हासिल कर ली। कविताएं लिखती है कि नहीं, यह तो पता नहीं चला, पर हिंदी में एम.ए. कर रही है। कविताओं में उसकी रुचि है। पत्र-मित्र बनाती है तथा एक बार कॉलेज की शतरंज प्रतियोगिता

में उसे उप-विजेता का शील्ड भी मिला है, वह अभी भी सामने वाली अलमारी में सजा हुआ है।

शिवानी के मुंह से 'पत्र-मित्र' जैसी बात सुनकर कुछ अटपटा-सा लगा। पहली बात तो उसके चेहरे की गंभीरता के साथ इसका तालमेल नहीं बैठता था। दूसरा यह कि 'पत्र-मित्रता' जैसे शौक किशोर-वय में साल-दो-साल ही रहते हैं, इस शौक का जवानी तक जारी रहना, समझ में नहीं आता था। मैंने सोचा, शिवानी ने अपनी रुचि परिष्कृत कर ली है। उसकी 'पत्र-मित्रता' उस तरह की नहीं है, जैसी पत्र-पत्रिकाओं में नाम, पते और रुचियां पढ़वाकर बड़े पैमाने पर संपादकों द्वारा करवाई जाती है। कविता पढ़कर किसी को पत्र लिखना, 'पत्र-मित्रता' की उस कोटि में नहीं आता। शिवानी तो यह भी सावधानी रखती है कि पत्रों में 'नाना' का पता देती है। कहीं पत्र-मित्र लिखते-लिखते मिलने भी चल पड़े तो सीधा शिवानी का दरवाजा नहीं खटखटा सकता, जैसा कि हमारे साथ हुआ।

"यहां तक आए हैं, तो आपकी एक-दो कविताएं ही सुन लें," मिश्रा की आवाज कानों में पड़ी। वह शिवानी से कविता सुनाने का आग्रह कर रहा था। मिश्रा छोटा-मोटा खिलाड़ी नहीं है। अपनी कविता के लिए पहले पुख्ता जमीन तैयार करता है। प्रारंभ में ही उसने तुरुप का इक्का फेंक दिया—इस विचार से कि पहले लड़की की सारी तुरुपें गिरवा ली जाएं, बाद के सारे हाथ तो अपने ही हैं।

शिवानी लजा गई। उसके चेहरे पर शर्म उतर आई। शर्म को दबाते हुए उसने मुस्कराने का प्रयास किया। यह मुस्कुराहट ऐसी थी, जिसका शिवानी के भीतरी संसार से कोई सीधा संबंध नहीं था। मैंने महसूस किया—'पहले आप, पहले आप' का सिलसिला शुरू ही होने वाला है। फिर इन दोनों में से कोई कविता सुनाने के लिए गला साफ करेगा।

"मैं कविताएं नहीं लिखती।" शिवानी ने संयत होकर जवाब दिया। कहीं मेरी शंका निराधार तो नहीं? फिर मैंने सोचा, पहले-पहल सब यही कहते हैं और लड़कियां तो क्या-क्या नहीं छुपाए रखतीं अपने भीतर! किसी बात के लिए इतनी जल्दी तैयार हो जाना, अपने भीतर दुबककर बैठी लज्जाशील स्त्री को अपमानित करना है।

मिश्रा इतनी जल्दी हार मानने वालों में से नहीं था। शिवानी के इंकार ने उसे एक उन्मादी जोश से भर दिया। कवि-मन मचल उठा—

"छोटी-मोटी याद हो, वही सुना दीजिए। हम तो आपके मुंह से कविता के दो शब्द सुनना चाहते हैं।"

मिश्रा ने कविता में उतने मंच तो नहीं लूटे, पर मंच के स्तर की अनुनय-विनय, ध्यान चाहूंगा, क्या शेर कहा है, वाह-वाह आदि शब्द और वाक्यांश सीधे उसके पेट से निकलते हैं। मंच की वाक्य-संरचना और भाषिक ज्ञान से वह पूरी तरह वाकिफ है। इससे पहले कि मिश्रा आग्रह करते-करते भावावेग के उस चरम तक पहुंचता, जहां से आगे जाने पर मंच के कवियों की भाषा अश्लील होने लगती है, शिवानी की मां ने उसे टोक दिया—

"आप खामखां परेशान हो रहे हैं। शिवानी कविता नहीं लिखती है।" शिवानी की मां, जो अभी तक तस्वीरों वाली मां 'सीते' जैसा कारुणिक चेहरा लिए चुपचाप बैठी थीं, अचानक बोल पड़ीं। हालांकि उन्होंने यह बात शालीनता से कही थी, जिसमें क्रोध का रंचमात्र भी नहीं था, पर मिश्रा पर इसका प्रतिकूल असर हुआ। उसके अंग्रेजी रंग वाले चेहरे का सबसे रक्तिम क्षेत्र यानी कि उसकी नाक में हल्का कंपन हुआ। मिश्रा की नाक लुपलुपी की तरह फूलती और पिचकती है और इस प्रक्रिया में किस्म-किस्म के भावों को व्यंजित करने में समर्थ होती है। इस वक्त मिश्रा के नथुनों की फड़कन से पता लगाया जा सकता था कि मां के इस हस्तक्षेप ने उसे निराश किया है।

मां का ध्यान मिश्रा की ओर नहीं था। वह सामने दीवार पर लगे एक चित्र की ओर देख रही थीं। फिर कुछ सोचकर बोलीं—

"शिवानी पहले चित्र बनाती थी, दो-तीन साल से तो वह भी छोड़ दिए। देखो न । यह चित्र शिवानी ने ही तो बनाया था।" कहते हुए एक मुस्कुराहट उनके चेहरे पर खेल गई। ऐसा जान पड़ा कि कहीं यह मुस्कराहट कुछ और लंबी खिंच जाती तो रुलाई में तब्दील हो सकती थी।

हमारा ध्यान भी दीवार की तरफ गया। तस्वीर में एक सूटधारी आदमी मुस्कुरा रहा था। चित्र जलरंगों की सहायता से सफेद शीट के टुकड़े पर बनाया गया था, जिसे आधी काली शीट पर लगाकर दीवार से चिपका दिया गया था। समय के साथ रंग कुछ धुंधले जरूर पड़ गए थे, पर चित्र वाला चेहरा अब भी स्पष्ट था।

"इसके पिता का है.....", कहते हुए उनका गला रुंध गया और वह वाक्य पूरा नहीं कर पाई।

पिता के इस संदर्भ के आते ही वातावरण एकाएक भारी हो गया था। कुछ देर कोई कुछ नहीं बोला। मैं तो पहले ही चुप था और मिश्रा को बोलने के लिए कोई छोर नहीं मिल रहा था। कुछ देर बाद शिवानी ने ही इस चुप्पी को तोड़ा।

"मैं अब चित्र नहीं बनाती। दादाजी यह सब पसंद नहीं करते। पहले डायरी में कुछ कवियों की कविताएं उतारी थीं। अब तो वे भी मेरे पास नहीं हैं।" कविता का जिक्र आते ही मिश्रा ने प्रश्नवाचक दृष्टि से शिवानी की ओर देखा, जैसे पूछना चाहता हो, 'क्यों नहीं हैं आपके पास?' शिवानी मिश्रा का आशय समझ गई और उसके बोलने से पहले ही बोल पड़ी—

"दादाजी ने डायरी जला दी है। एक बार पता नहीं कैसे उन्होंने डायरी देख ली थी। वे आगबबूला हो उठे और उन्होंने उसे जला दिया।"

मैं दादाजी के आकार-प्रकार की कल्पना करने लगा। मेरी स्मृति में एक खूंखार बूढ़े आदमी की तस्वीर बनने लगी। एक बूढ़ा आदमी दरवाजे के बीचोंबीच खड़ा मिश्रा को घूर रहा है। सिर पर एक बाल नहीं और गुस्से में कांपने की वजह से टोपी उसकी जमीन पर गिर गई है। लंबे-लंबे हाथ हवा में लटके हुए हैं, जैसे शरीर से इनका कोई रिश्ता नहीं है—चेहरे की हड्डियां उभरी हुई हैं और बार-बार वह गुस्से में दांत भींच रहा है। यह क्या? अचानक निर्जीव-सा दिखने वाला हाथ उठा और उसने एक ही झटके में मिश्रा की गोरी-भूरी गर्दन को पकड़ लिया। एक 'हूं ऽऽ' के साथ मिश्रा का समूचा शरीर हवा में टंग गया है। मिश्रा घिघिया रहा है, मुंह से 'गूं ऽऽ गूं ऽऽ' की आवाज और झाग निकल रहा है, आंखें बाहर निकल आई हैं। ओज और शृंगार का कवि धीरे-धीरे दम तोड़ रहा है। शिवानी जोर-जोर से चीख रही है—"दादाजी छोड़ दो....दादाजी छोड़ दो ..... ।" दादाजी ने सचमुच छोड़ दिया—धड़ा ऽऽ म का जोरदार शब्द हुआ और इस शब्द को सुनकर मैं अकबका गया और मेरी चेतना लौट आई।

"आप चित्र तो बहुत अच्छे बनाती हैं, पर पत्र भी कम साहित्यिक नहीं लिखतीं।" यह मिश्रा की ही आवाज थी, जो अवचेतन से बाह्य संसार में लौटने के बाद मुझे सुनाई पड़ी। वह कविता के संदर्भ को पुनः खींचकर पटरी पर लाने की कोशिश कर रहा था।

"हां, मैं कविताएं पढ़ती रहती हूं, कभी कोई अच्छी लगती है तो पत्र भी लिख देती हूं," शिवानी ने सहज भाव से कहा था।

एक-दो बार खांस-खखारकर और धोती के पल्लू से नाक साफ करने के बाद मां सामान्य हो

चली थीं। मैं मिश्रा की आदत को जानता हूं। यदि, आज यहां वह कविता नहीं सुना पाएगा तो महीनों उसके मन में कसक बनी रहेगी, इसीलिए वह बार-बार बातचीत का रुख कविता की तरफ मोड़ रहा था।

"आप ही अपनी कोई कविता सुनाइए न मिश्रा जी," मैंने मिश्रा का मन रखने के लिए कहा।

मिश्रा कुछ कह पाता, इससे पहले ही एक वाकया हो गया। सात-आठ साल के एक बच्चे ने आंधी की तरह घर में प्रवेश किया और आते ही वह 'मामा-मामा' कहता हुआ मिश्रा के पैरों में लोट गया।

बच्चे के बाल धूल से सने थे। कपड़े उसने सलीके से पहन रखे थे, पर देखकर लगता था कि वह अभी-अभी धूल में लोट लगाकर आ रहा है। मुंह से एक खास तरह की आवाज निकालते हुए उसने मेरे पैरों में भी अपना सिर रख दिया। बच्चे की आंखों में भोलापन और वैसा ही आकर्षण था, जैसा आते वक्त शिवानी की छोटी बहन की आंखों में मैंने देखा था।

मिश्रा और मैं हैरान थे। शिवानी और उसकी मां निर्विकार भाव से अपने-अपने स्थानों पर बैठी थीं, जबकि बच्चा तरह-तरह की ध्वनियां वातावरण में प्रक्षेपित कर रहा था।

"बैठ जाओ, काकू।" पास की कुर्सी की ओर संकेत करते हुए मां ने उसे बैठने को कहा। पर काकू नहीं बैठा, मिश्रा की कुर्सी पर उसे सरकाते हुए बैठने की जगह बनाने लगा। मिश्रा सहमते हुए थोड़ा खिसका और काकू ने ठीक तरह से बैठने के बाद मिश्रा की आंखों में आंखें डाल दीं और इस तरह सिर हिलाना प्रारंभ किया, जैसे मिश्रा की आंखों में छुपे किसी गूढ़ रहस्य को उसने जान लिया हो।

मिश्रा की स्थिति अत्यंत दयनीय हो गई। उसे कुछ सूझ नहीं रहा था कि वह क्या करे? काकू की गर्दन लोलक की तरह लगातार हिल रही थी। मिश्रा ने मदद के लिए बारी-बारी से सबकी ओर देखा, उसकी आंखों में याचना का भाव था। मिश्रा की विनयावनत आंखें अंत में मां के पास जाकर ठहर गईं। वे कहना चाहतीं थीं—'कष्ट हरण करो मां। यह व्याधा कहीं और विस्थापित हो।'

विकल बालक की आर्त गुहार मां ने तो नहीं सुनी, पर इस बीच शिवानी की एक और छोटी बहन चाय लेकर आ गई थी। चाय की ट्रे पर नजर पड़ते ही काकू चा-चा-चा कहता हुआ उठकर किचिन की ओर भागा। पलक झपकते ही वह लौट भी आया, उसके हाथ में प्लास्टिक का खाली कप था। काकू जमीन पर उकड़ूं बैठ गया और खाली कप को टेबुल पर पटकते हुए—'चा-चा-चा' का स्वर गीतात्मक लहजे में दोहराने लगा। घर के लोग काकू की आदतों से परिचित रहे होंगे। बहन ने एक कप चाय उसके खाली कप में उंडेल दी।

"आपका छोटा भाई?" परतंत्रता के बंधनों से मुक्त होने के बाद मिश्रा ने शिवानी से पूछा। शिवानी ने 'हां' कहते हुए सिर हिला दिया।

बहन को रास्ता देते समय मां उठकर मेरे बहुत पास आ गई थीं। कमरे में हल्का अंधेरा था, पर अब मैं उन्हें ठीक से देख पा रहा था। एक सींक-सी औरत, मांस जिसके शरीर में बचा नहीं, गर्दन पर झुर्रियां पड़ रही हैं और समय के ताप ने इसे पैंतालीस-पचास की उम्र में ही सुखाकर रख दिया है।

"चार साल पहले इसे निमोनिया हुआ था," उन्होंने धीरे-धीरे बोलना शुरू किया। आवाज खनकदार थी और ऐसा जान पड़ता था जैसे कुएं के भीतर से कोई बोल रहा है।

"निमोनिया ऐसा बिगड़ा कि फिर यह बोल नहीं सका । छुट्टियां लेकर इसके पिता इलाज कराते रहे, पर कुछ आराम न हुआ," कहते हुए उन्होंने काकू की ओर देखा। कमरे में निस्तब्धता छा गई थी और इस निस्तब्धता को तोड़ती हुई काकू की चाय की चुस्की ऐसी सुनाई पड़ती थी, जैसे किसी अश्वारोही ने लगाम खींचते हुए अपने घोड़े को पुचकारा हो।

मां एक रौ में बोले जा रही थीं, " डाक्टर कहते थे, अब यह नहीं बोलेगा, पर इसके पिता कब हार मानने वाले थे। दिल्ली तक ले गए, बहुत रुपया खर्चा किया, तब कहीं इसके मुंह से आवाज



निकली।" कहते हुए वह हंसने लगीं, "अपने पिता का बड़ा लाडला था, तीन बेटियों के बाद जो पैदा हुआ था।" बातचीत के दरम्यान उन्हें ख्याल आया कि हम में से कोई चाय नहीं पी रहा है। बोलीं, "अरे! आप लोग चाय लीजिए न!"

चाय का कप उठाते हुए और काकू को घूरते हुए मिश्रा ने पूछा," क्या मैंटली डिस्टर्ब है?"

मिश्रा के प्रश्न को जैसे मां ने सुना ही नहीं। शिवानी जरूर इस प्रश्न को सुनकर भीतर-ही-भीतर तिममिला उठी। कोई कुछ नहीं बोला और एक बार फिर चुप्पी छा गई।

मुझे बरबस ही कोलंबस और उसके नाविकों की करतूतें याद आने लगीं, जो खेल-खेल में ही काले गुलामों की गर्दनें उतार लिया करते थे। फिर हंसते थे और मौत में भी खेल जैसा आनंद लेते थे। मेरा मित्र कोलंबस नहीं था। भले ही रंग उसका गोरा था, पर वह भी काले गुलामों की जमात में ही शामिल था। ऐसे लोगों के भीतर भी कभी-कभी कोलंबस आकर बैठ जाता है, तब ये तलवार वाली हिंसा तो नहीं कर पाते, पर शब्द-हिंसा जरूर कर बैठते हैं।

"आप अपनी कुछ कविताएं सुनाइए न मिश्रा जी?" पता नहीं क्या सोचकर शिवानी बोली। उसकी इच्छा कविता सुनने की है या वह काकू के संदर्भ में होने वाली चर्चाओं से छुटकारा चाहती है? मेरी समझ में नहीं आया।

मिश्रा के चेहरे पर आश्चर्य के भाव थे। मिश्रा को शिवानी से ऐसी उम्मीद नहीं थी कि वह कविता के लिए कहेगी। मिश्रा ने पहले शिवानी और फिर काकू की ओर देखा। शिवानी समझ गई कि मिश्रा काकू की उपस्थिति से झिझक रहा है।

काकू चाय पी चुकने के बाद ऐसी मुद्रा में खड़ा हुआ जैसे अंगड़ाई ले रहा हो। उसके एक हाथ की उंगली में प्लास्टिक वाला कप अटका हुआ था। उसने अपना मुंह छत की ओर किया हुआ था और वह भाप के इंजन जैसी कू-कू-कू-कू की आवाज मुंह से निकाल रहा था।

"काकू! नाना के यहां खेलने नहीं जाओगे?" शिवानी ने काकू से पूछा। काकू ने शिवानी की ओर देखा और कुछ देर देखता ही रहा। शिवानी की बात उसे समझ में आ गई होगी क्योंकि वह 'हां' में सिर हिलाने लगा और फिर हिलाता ही रहा। जाने को उद्यत होने से पहले उसने मिश्रा के कान के पास आकर एक अधिक आवृत्ति वाली कू-कू-कू-कू की आवाज निकाली और 'धरती गोल है.....धरती गोल है.....' जैसी कोई बात दोहराते हुए वह कमरे से बाहर निकल गया।

"चला गया.....!" मां ने एक लंबी सांस खींची और भारी मन से फेफड़ों की हवा बाहर छोड़ते हुए वाक्य पूरा किया, " अब घर जाकर नानी को तंग करेगा।"

इस दरम्यान मिश्रा कविताओं के बारे में ही सोचता रहा होगा। क्योंकि काकू के जाने के बाद ही उसने शिवानी से कहा, "आप कह रही थीं तो अपनी एक-दो छोटी कविताएं आपको सुनाता हूं।" कमरे में बैठे सभी लोगों का ध्यान मिश्रा की तरफ चला गया।

"हां, तो शिवानी जी, पहली कविता पढ़ रहा हूं।" मंच की आदत की वजह से मिश्रा 'सुनाने' को 'पढ़ना' कहता है। कभी उसे गीत सुनाना हो तो कहेगा—एक गीत दे रहा हूं। ग़ज़ल सुनानी हो तो—शेर अर्ज किया है आदि मंच के ढले-ढलाए वाक्यों का प्रयोग करता है। मिश्रा ने कविता शुरू की—

अनुताप बड़ा है
न कि मन का मान
शरद बड़ा है
न कि यह चांद
आंख बड़ी है
न कि यह परितान
झंकृत मन के तार-तार कर बैठा
रूप बड़ा है, रूपसि!
न कि यह अभिमान
.....

मुझे ऐसा जान पड़ा, टीन के डिब्बे में शब्द भरे हैं और मिश्रा उन्हें रेजगारी की तरह बजा रहा है। नारी मन की बारीकियों और उसके अंगों का मिश्रा को अच्छा ज्ञान है। इस लिहाज से कुछ मित्र उसे अंगशास्त्री भी मानते हैं। कविता पढ़ते-पढ़ते वह शिवानी में खो गया। कल्पनालोक में विचरती नायिका जैसे सजीव हो उठी, कभी वह नायिका की चपल आंखों में झांकता, तो कभी बोलते-बोलते खुद आंखें बंद कर लेता। शिवानी जिस कुर्सी पर बैठी थी, वह टीन की थी। अगर यह गद्देदार होती, तो वह शर्म से जरूर उसमें धंस जाती।

कविता छोटी कहीं से भी नहीं थी और जब यह खत्म हुई, तब तक मां दो बार दीवारघड़ी की ओर देख चुकी थीं। एक बार उन्होंने उसांस-सी भरी और अपने आप से ही कहा," पांच बज गए हैं। दादाजी आते होंगे।"

अनजाने में ही दादाजी के आगमन का समाचार सुनकर मेरा दिल धड़क उठा। शिवानी की बात का ख्याल आया—दादा ने शिवानी की डायरी जला दी थी। कितना खतरनाक होगा वह दादा, जो डायरियां जला देता है? कविता और मित्रों से जिसे चिढ़ है! भावनाओं से लबालब भरे पत्रों का जिसकी नजरों में कोई मूल्य नहीं है! ऐसा भयानक किस्म का बूढ़ा-खूंसट दादा कुछ ही क्षणों में आने वाला है! सोचते हुए मैं भीतर तक कांप गया।

मुझे दादा की फिर एक झलक दिखाई पड़ी। दादा आ गए हैं। बहुत दूर से पैदल चलते हुए आए हैं। माथे पर पसीने की बूंदें ढलक रही हैं, धोती-कुर्ता और जूतों पर गलियारों की धूल है। उनके एक हाथ में छाता और दूसरे हाथ में सामान से भरा वजनी थैला है। दरवाजे की ओट में उन्होंने जूते उतारे हैं। खूंटी पर छाता टांगते हुए उनकी नजर हम पर पड़ी—मेरी सांसें रुकने लगी हैं। यह क्या! यकायक वह मिश्रा को देखकर चीख पड़े—यह नीच! अभी तक यहां बैठा है।

तुम हंसती हो तो बाग-बाग दिल होता है
तुम रोती हो तो साथ-साथ दिल रोता है
हिरनी-सी बलखाती चलतीं
लहरें ज्यों लहरा के बहतीं
कभी सकुचातीं, कभी मुस्कातीं,
हर अदा गजब तुम ढाती हो
तुम हो सुंदर कितनी सुंदर
इसलिए मुझे तुम भाती हो.....

मिश्रा दूसरी कविता पढ़ रहा है। दादा कहीं नहीं हैं, अभी जो आकृति दिखाई पड़ी थी, वह मेरा भ्रम था। पता नहीं, मुझे क्या हुआ है कि हर जगह दादा दिखाई पड़ रहे हैं। धूल खा रही पिता की तस्वीर में दादा का अक्स है, मां की उद्विग्न आंखों में वह डंडा लिए बैठे हैं, कविता के घात-प्रतिघातों को झेलती शिवानी, उन्हीं के भय से गठरी में बदल गई है। न होने को वह कहीं नहीं है और होने को घर के कण-कण में व्याप्त हैं। किसी ने सच ही कहा है—कवि निःशंक होता है। उसे भय कहां! एक अकेला कवि है जो दादा के भय से निर्लिप्त है। कवि का हृदय कमल-पत्र के समान है, जिस पर भय रूपी जल की बूंदे नहीं ठहरतीं :

कितनी हो निश्छल, चंचल
स्वरूप हृदय निर्मल कोमल
देह तुम्हारी कितनी किसलय
बहती सरिता जैसे झर-झर।.....

पृष्ठ 52 पर जारी

जब तक इस दुनिया में बचपन है

यह जरूरी है कि जिसे हम बाल-साहित्य कहकर बच्चों को देते हैं, वह सचमुच साहित्य हो, जिसमें उनकी कल्पनाशक्ति जगाने की सामर्थ्य हो। इसके महत्व पर **रमेश चंद्र शाह**

'पूत के पांव पालने में', 'चाइल्ड इज द फादर ऑफ मैन' – सरीखी सूक्तियां आखिर कैसे और क्यों उपजी होंगी? क्या आधुनिक समाज में बचपन के महत्व की स्वीकृति पारस्परिक समाजों की तरह है? या कि उसमें गुणात्मक अंतर आ गया है? बड़े होने का– बच्चे से वयस्क बनने की प्रक्रिया का– अर्थ क्या है? क्या वह एक स्थिति से तथाकथित 'विकसित स्थिति' तक की यात्रा है–जिसमें पीछे मुड़कर देखना या कि वयस्क हो जाने पर भी बच्चे की आंखों से दुनिया को देख सकने की सामर्थ्य बचा रखना मानसिक दौर्बल्य का लक्षण है? कला और उच्चतम सांस्कृतिक अनुभव की अभिव्यक्तियां इस बारे में क्या कहती हैं? क्यों किन्हीं संस्कृतियों में यह माना जाता रहा है कि उच्चतम आध्यात्मिक अनुभूति प्राप्त कर लेने वाला व्यक्ति बच्चे की तरह हो जाता है: 'परमहंसो बालवत्'? दूसरी ओर, क्या यह भी सच नहीं कि बचपन की अवस्था एक 'प्राकृतिक' अवस्था है, जिसका 'सांस्कृतिक' अवस्था में रूपांतरण अनिवार्य है? इस रूपांतरण की वह आदर्श प्रक्रिया क्या हो सकती है जिसमें प्रकृति और संस्कृति का संतुलन बना रहे ? विभिन्न संस्कृतियों का प्रकृति के प्रति दृष्टिकोण भी क्या अलग-अलग नहीं होता? उदाहरण के लिए एक सभ्यता प्रकृति को 'ईविल' या शैतान का खेल मानकर उस पर विजय और पूरा-पूरा नियंत्रण प्राप्त करना ही मनुष्य का सबसे बड़ा कर्तव्य मानकर चल सकती है जबकि दूसरी सभ्यता प्रकृति के ऊपर उठने का लक्ष्य सामने रखते हुए भी उसके प्रति पूजा और दिव्य विभूति का भाव भी बनाए रख सकती है। क्या ऐसी अलग दृष्टियों वाली सभ्यताएं बचपन के प्रति भी काफी अलग दृष्टिकोण नहीं रखेंगी? इनमें सही दृष्टिकोण–बच्चे के प्रति न्याय करने वाला और बचपन की संभावना–बीजों को पूरा-पूरा और सही-सही पनपा सकने की गुंजाइश रखने वाला दृष्टिकोण–कौन-सा होगा?

ये कुछ प्रश्न हैं जो बच्चों से या कि बचपन से जुड़ी किसी भी समस्या पर सोचना शुरू करते ही एक अनिवार्य-से पार्श्व-संगीत की तरह हमारे भीतर प्रतिध्वनित होने लगते हैं। सच पूछें तो इनके इस तरह पूछे जाने में ही इनके उत्तर भी निहित हो जाते हैं।

आखिर हम मानव व्यक्तित्व के विकास की कौन-सी कसौटी अपने सामने रखकर चलते हैं? सर्वांगीण विकास की बातें तो सभी करते देखे जाते हैं, मगर वह है क्या? क्या हम उसके अर्थ में सचमुच विश्वास करते हैं? क्या हमारी इस आधुनिक सभ्यता में विकास की हमारी अवधारणा में भी–सचमुच उसके लिए कोई गुंजाइश है? या कि ये सब महज बातें हैं—अपने आप में मीठी और भली-भली बातें—जिन्हें वास्तविक विश्वास और कर्म का स्थानापन्न मान लेने में ही हमारे कर्त्तव्य की इतिश्री हो सकती है।

किसी भी आदमी के जीवन में दिल और दिमाग की, ऐंद्रिक अनुभवों और कल्पना, संवेदना की यानी चेतना के सभी पक्षों की भूमिका होती है। उसके मनोविज्ञान में इन सभी का योग होता है और जिसे हम उसका व्यक्तित्व कहते हैं उसमें ये तीनों-चारों पक्ष परस्पर गुंफित होते हैं। निश्चय ही किसी में ऐंद्रिकता का विशेष उत्कर्ष होगा, किसी में भावना-कल्पना का, किसी में बौद्धिकता का। मनोवैज्ञानिक युग के यहां ही, मसलन, हम देखते हैं कि अंतर्मुखी और बहिर्मुखी इन दो मोटे वर्गीकरणों से प्रत्येक के अंतर्गत फिर चार-चार उपविभागों में मानव-व्यक्तियों को बांटा गया है। कुछ में संवेद विशेष हो जाता है तो वे 'सेंसेशनल' टाइप में आते हैं, कुछ में भावना आवेग प्रधान हो जाता है तो वे 'एफेक्टिव' टाइप में आते हैं, कुछ में अंतर्ज्ञान विशेष विकसित होता है तो वे 'इंट्यूटिव' टाइप के अंतर्गत आएंगे; और जिनमें बौद्धिक तर्कशक्ति विशेष महत्व प्राप्त कर लेती है, ऐसे लोग 'इंटेलैक्चुअल' वर्ग में आएंगे। किंतु इस प्राधान्य के बावजूद प्रत्येक में अन्य वृत्तियां भी कमोबेश होंगी ही; और मनुष्य जाति का हित इसी में है कि ये सारे अलग-अलग टाइप एक दूसरे के प्रति समझ और सहानुभूति रख सकें उनमें मात्रा-ज्ञान और संतुलन की चाह भी हो। ऐसा कभी संभव होगा? हमारी चिंता का विषय भी प्रस्तुत संदर्भ में—सच पूछा जाए—तो यही है। यहीं पर साहित्य का, सृजनात्मक साहित्य का, विशेष महत्व समझ में आता है। साहित्य में मनुष्य अपनी समूची सत्ता में धड़कता है। उसके ऐंद्रिक, प्राणिक, भाविक और बौद्धिक जीवन के सभी पक्ष उसमें प्रतिबिंबित होते हैं। साहित्य हमारी कल्पनाशक्ति और भावना के प्रशिक्षण का सबसे तगड़ा माध्यम है और बचपन उसके प्रति सबसे अधिक संवेदनशील होता है। इसीलिए यह जरूरी है कि जिसे हम बाल-साहित्य कहकर उन्हें देते हैं, वह सचमुच साहित्य हो। साहित्यकारों द्वारा रचा गया साहित्य, जिसमें उनकी कल्पनाशक्ति को सचमुच जगाने की सामर्थ्य हो।

दरअसल एक व्यक्ति के जीवन में—व्यक्तित्व-निर्माण या विकास की दृष्टि से भी—बौद्धिक प्रशिक्षण का—तर्कशक्ति के विकास का—जितना कम महत्व है, उससे शायद कुछ अधिक ही महत्व इस बात का है कि उसकी भाविक और सांवेदनिक सत्ता को उसके कल्पनाप्रवण अंतर्जीवन को भी उपयुक्त और पर्याप्त पोषण मिला है कि नहीं? अपने आसपास, अपने परिचय की परिधि में कितने लोग हमें मिलते हैं जिनके बारे में हम यह दावा कर सकें कि वे सचमुच भाविक- सांवेदनिक दृष्टि से भी परिपक्व हैं, अर्थात् सही माने में इमोशनली एजुकेटेड हैं? अपने अनुभव और निरीक्षण से हम सब इस तथ्य से वाकिफ हैं कि अच्छे-खासे पढ़े-लिखे और तेज-तर्रार समझे जाने वाले लोग भी भाविक स्तर पर बहुत कच्चे साबित होते हैं। बौद्धिक प्रशिक्षण की जानी-पहचानी लीकों पर सफलतापूर्वक अपना जीवन-रथ दौड़ा ले जाना, परीक्षाओं, प्रतिस्पर्धाओं में सबको पछाड़ते हुए एक बात है और जीवन के नाजुक निर्णायक प्रसंगों पर परिपक्वता का परिचय दे सकना, दूसरे के घट में पैठकर दूसरे के दूसरेपन को समझ और स्वीकार कर सकना अथवा रोजमर्रा

की जिंदगी की अभ्यस्ति के जालों को काटकर चीजों को, दृश्यों को, घटनाओं को एकदम नई आंखों से ग्रहण कर सकने की सामर्थ्य को— संवेदन की ताजगी को—अक्षुण्ण बनाए रखना बिल्कुल अलग बात है। क्या ऐसा नहीं लगता कि बचपन का समय इन संस्कार-बीजों के पनपने के लिए सबसे उपयुक्त समय है? इंद्रियों पर तब अभ्यास के जाले नहीं लगे होते, कल्पनाशक्ति भी तब बड़े सहज और स्वतःस्फूर्त ढंग से सक्रिय हुआ करती है, संवेदनशीलता भी उस दौरान स्वभावतः बहुत तीव्र होती है और पूर्वग्रहों-पूर्वमान्यताओं से पूर्णतया मुक्त भी।

मैं अपने अनुभव के आधार के बल पर निःसंकोच कह सकता हूं कि दरअसल यही उपयुक्त समय है अपने देश के पुराणों और महाकाव्यों की छाप ग्रहण करने का और साथ ही साथ विश्व की भी कुछ कालजयी कृतियों की भी—मसलन डान क्विकजोत सरीखी सदाबहार कृतियों की भी। मुझे याद है—एक मामूली-से संक्षिप्त अनुवाद में यह उपन्यास मैंने मिडिल स्कूल के दिनों में पढ़ा था। संक्षिप्त किंतु ठेठ हिंदुस्तानी रूप में, जिसका वह प्रारंभिक आस्वाद आज तक मेरे भीतर अक्षुण्ण है और जो बाद में सयानी समझ विकसित करने में बेहद मददगार साबित हुआ।

किंतु यहीं पर सबसे बड़ी कठिनाई उपस्थित होती है। यह कठिनाई मानवीय विकास की हमारी एकरैखिक और एकांगी समझ के कारण पैदा होती है और बच्चे की आंखों से दुनिया को तथा अपने को भी देख सकने की हमारी सयानी अक्षमता के कारण भी। क्या बचपन का पटाक्षेप बचपन बीतने के साथ ही हो जाता है? या कि संवेदन की वह ताजगी और कल्पनाशक्ति वयस्क जीवन के लिए निरर्थक है? निश्चय ही नहीं। इससे अधिक अवयस्क विचार कुछ नहीं हो सकता कि बच्चे को जल्दी से जल्दी बड़ा कर दिया जाए, उसे हमारी तथाकथित वयस्क जिंदगी के तौर-तरीकों और आगे बढ़ने या तरक्की करने के प्रचलित ढर्रों में ढाल दिया जाए। सच पूछा जाए तो बचपन के अनुभवों का मूल्य सयानेपन के अनुभवों से कम नहीं होता। बल्कि बचपन में मिले संस्कारों की नींव पर ही वयस्क जीवन की सुंदर और मजबूत इमारत खड़ी होती है। इतना ही नहीं, कई बार बचपन के गहरे गढ़े अनुभव संस्कार ही हमें वयस्क जीवन की चुनौतियों को सही मानों में झेलने-पचाने की शक्ति भी प्रदान करते हैं। इसका एक दुखद पहलू यह भी है कि बचपन में जिसे स्नेह और सच्ची सहानुभूति नहीं मिलती, लगातार लांछन और तिरस्कार मिलता है वह आगे चलकर अपने ही बूते कुछ कर भी ले जाए तो भी उसके आत्मविश्वास में एक दरार-सी पड़ी रहती है जिसे भरना अक्सर दूभर हो जाता है। इसी के चलते कई लोगों में ऐसी विकृतियां भी घर कर जाती हैं, जिनका अनुमान तक हम उनके सयाने आचरण और बुद्धि-कौशल को देखते हुए नहीं लगा सकते। यह भी संभव है कि स्वयं ऐसे व्यक्ति को भी अपनी विकृतियों की भरपूर चेतना न हो और यह एक अचेतन प्रतिशोध ही हो जो कई बार अपने अनजाने भी मानव-व्यक्ति समाज से लेता है। अपने प्रति बचपन के दौरान किए गए गहरे अन्याय की प्रतिक्रिया में। इसमें अस्वाभाविक जैसा भी कुछ नहीं, क्योंकि जिस परिवार के बीच हम उगते हैं और बढ़ते हैं तथा अपने जीवन बोध का आरंभ करते हैं वह भी तो अपने आप में एक भरापूरा समाज ही है। व्यक्ति के लिए मानव-समाज की सत्ता का सबसे पहला और सबसे अविस्मरणीय सबक, तो समाज के पाप का दंड समाज को ही मिले, यह आश्चर्य का विषय क्यों हो?

वास्तव में जिसे हम कल्पनात्मक सृजनशीलता कहते हैं उसका उत्स भी, दरअसल यह बालक-मन ही है। वयस्क प्रज्ञा और बाल सुलभ कल्पनाशीलता का दुर्लभ संयोग। किसी भी बड़े लेखक और कलाकार का उदाहरण ले लीजिए। तथ्य यही है कि उसके रचनात्मक अंतर्जीवन की ऊर्जा उसके इसी कारण निर्णायक महत्व को साबित करती है—अर्थात् उसके बचपन के जीवनानुभव से। बचपन का परिवेश और बचपन के संवेदन-संवेग एक कलाकार के लिए उसकी समूची जीवनानुभूति को निर्धारित करने वाले हो सकते हैं। यह कोई नियतिवादी निष्कर्ष नहीं, एक सामान्य और सर्वव्यापी तथ्य है, सृजनात्मक स्वभाव का जिस पर दुनिया के सभी कवियों और कथाकारों ने भी अपने कृतित्व की छाप लगाई है। यह कोई आकस्मिक संयोग भर नहीं कि सभी बड़े रचनाकारों के लिए उनका यह भाव गहराए बचपन ही उनकी रचना शक्ति और रचना-सामग्री का भी सबसे अविरल स्रोत सिद्ध हुआ है: उदाहरण के लिए हम पंत के काव्य को, अज्ञेय के *शेखर :एक जीवनी* को, वर्ड्सवर्थ के *प्रिल्यूड* को, डिकन्स के *डेविड कॉपरफील्ड* को गिना सकते हैं। किंतु इन उदाहरणों से यह निष्कर्ष निकालना उचित न होगा कि किसी लेखक की मात्र आरंभिक और अंशतः आत्मकथात्मक कृतियां ही उसके बाल्यकालीन अनुभवों से निर्धारित या प्रभावित होती हैं।

सच्चाई तो यह है कि बाल्यकाल अपने आप में एक स्वतःपूर्ण काल है। बालक अपने विश्व-बोध को उस तरह बतला नहीं सकता, इसका मतलब निश्चय ही यह नहीं कि वह सिर्फ एक कोरी पट्टी या निरीह भोक्ता भर है। नहीं, वह अपने ढंग का साक्षी और सर्जक भी है। वस्तुतः उसके जीवन की दिशा एवं भविष्य में उसकी चेतना के कार्य और पुरुषार्थ की रूपरेखा उसके आरंभिक दसेक वर्षों के जीवनानुभव के दौरान ही काफी कुछ तय हो चुकी होती है। निश्चय ही वयस्क होने की प्रक्रिया का और वयस्क बुद्धि का भी बहुत महत्व है, पर यह महत्व अधिकांशतः उन प्रारंभिक अनुभूतियों के मर्म को ही खुले उजाले में खींच लाने में और उनके जीवनव्यापी भाष्य में ही है तभी यह मर्म व्यापक मानवीय अर्थवत्ता को उपलब्ध करता है और मानव-व्यक्ति के जीवन की सभी अवस्थाओं को एक गहरी अंतःसंगति में बांधता और आलोकित करता है। बचपन के इस बीजधर्मी माहात्म्य को यथावत् समझे और स्वीकारे बिना हम विकास और युगधर्म और तदनुकूल शैक्षिक प्रविधि के नाम पर जो कुछ भी उपक्रम करेंगे वह अत्याचार और अनर्थ ही उपजाएगा क्योंकि विज्ञान की एकांगी समझ और द्रष्टानिरपेक्ष पूर्वग्रह से प्रेरित यांत्रिक और देहवादी दृष्टि अंततः मनुष्य को प्रकृति के समक्ष भी नहीं ला पाती, पुरुष और आत्मा के स्तरों तक उसे उठाने की तो बात ही क्या! प्रकृति के साथ भी विवेकपूर्ण और सत्य-सुंदर संबंध मनुष्य तभी बना पाता है, जब उसे अपनी प्रकृति से भी उत्तीर्ण हो सकने की क्षमता का—अर्थात् मनोमय, विज्ञानमय और आनंदमय 'आत्मा' होने का अहसास होता है, किंतु प्रकृति से और विश्व से उत्तीर्ण होने की अनुभूति और आत्मज्ञान पर बल देना और उसी के अनुकूल मानव-जीवन के 'संस्कार' की व्यवस्था करना एक बात है और प्रकृति पर, विश्व पर नियंत्रण हासिल करने और मनुष्य की इस महत्वाकांक्षी गणितीय बुद्धि को सृष्टि का केंद्र मानकर तदनुकूल प्रविधि उपजा लेना एकदम दूसरी बात है। कहने की जरूरत नहीं कि आज की समूची शिक्षा-पद्धति, बल्कि आज की समूची ज्ञान-व्यवस्था इस दूसरी और अंततः अनर्थकारी दृष्टि से ही उपजी हुई और उसी को आगे बढ़ाने वाली व्यवस्था है। इसलिए इसमें शिशु का वयस्क में विकास नहीं होता। बल्कि शैशव का तथाकथित वयस्क बुद्धि द्वारा संपूर्ण विस्थापन ही इस चराचर-द्रोही दृष्टि का अभीष्ट है।

बच्चों के बस्ते भारी होते जाते हैं। बचपन जो पांच-छः वर्ष का होता था, अब कट-छंटकर ढाई-तीन वर्ष का रह गया है। माता और पिता अब मात्र अभिभावक हैं। स्कूल-कॉलेजों के छात्र राजनीतिक अपराधकर्मियों के निरीह आखेट बने जा रहे हैं। शिक्षा या तो एक भयानक होड़ है या लाइलाज कुंठा और इन सबसे बड़ा और भीषण दुर्भाग्य यह है कि स्वयं हमारे शिक्षक तक

हमारे समाज की अधोगति के मूकदर्शक ही नहीं, सक्रिय सहभागी बने जा रहे हैं। बचपन के दिनों में ही *हरिजन सेवक* का एक संपादकीय स्वयं गांधी जी का लिखा हुआ मेरे पढ़ने में आया था। मद्रास के किसी गांव की किसी पाठशाला में पढ़ने वाले एक बच्चे ने अपने अध्यापक की चरित्रहीनता की शिकायत करते हुए गांधीजी को पत्र लिखा था। गांधीजी ने उस पर पूरा संपादकीय निछावर किया था और अंत में भारत की समूची शिक्षा-बिरादरी को संबोधित करते हुए बाइबल के एक वाक्य को उद्धृत करते हुए पूछा था: 'तुम ही इस धरती के नमक हो। अगर नमक ही अपना नमक होने का गुण खो देगा तो बताओ, बाकी चीजों के स्वाद और गुणवत्ता का क्या होगा?' अब ऐसा सवाल आज के शिक्षकों से अव्वल तो कोई पूछने वाला नहीं, और किसी ने पूछ लिया, तो वह हास्यास्पद ही ठहरेगा—बल्कि शायद वह भी नहीं—क्योंकि उसकी आवाज कोई सुनेगा ही नहीं। सुनने वाले जब जिस दिग्विजयी सभ्यता के रथ में जुते हुए हैं, उसके पहियों के कर्कश कोलाहल में ऐसी किसी आवाज के सुनाई देने की गुंजाइश नहीं है।

मगर थोड़ा ठंडे दिमाग से विचार करने पर यही जान पड़ता है कि यह गुंजाइश हमेशा रही है और अभी भी है। वैकल्पिक सभ्यता और संस्कृति का स्वप्न मरा नहीं हैं—सिर्फ मूर्छित पड़ा हुआ है जिसने यह आत्महंता विकास और होड़ की आंधी पैदा की है, स्वयं उस सभ्यता के भीतर के सबसे संवेदनशील लोग ही आज थोड़ा ठहरकर सोचने और आत्मलोचन करने को मजबूर हो गए हैं। जिस प्राणशक्ति और बुद्धि-ऊर्जा ने उन्हें इस आत्मद्रोही विश्व विजय की लीक पर डाला था वही अब उन्हें अपने और हमारे सर्जकों और विचारकों की चेतावनी के प्रति भी किसी सीमा तक सजग कर रही है, जो अपने जीवन और कृतित्व में सदैव समग्र के संवेग से परिचालित रहे हैं और जिनकी ज्ञानात्मक चेतना भी उन्हें उस 'रेडिकल इनोसेंस' से विच्छिन्न नहीं करती जो एक बालक की आंखों से संसार को देख सकने में निहित होती है। यही वह स्रोत है जहां से गांधीजी और रवींद्रनाथ जैसे परस्पर विरोधी प्रतीत होने वाले मनीषी भी अपना निर्दोष आत्मविश्वास और रचनात्मक शक्ति खींचते हैं। यही वह जगह है, जहां पूर्व और पश्चिम, काले और गोरे, मजहबी और काफिर जैसे मानव-द्रोही, देव-द्रोही और अंततः सृष्टि-द्रोही विभाजनों की निरर्थकता और कुत्सा भी एकदम साफ सामने आ जाती है। बाल-मानवता के स्वाभाविक सपनों और प्रौढ़-मानवता की गौरवशाली उपलब्धियों के बीच कोई अंतर्विरोधी नहीं, बल्कि सीधा-सच्चा संबंध है। भले ही इसकी प्रक्रिया कितनी ही जटिल और गहन क्यों न हो? असली अंतर्विरोध और मौलिक विसंगति तो उस हिसाबी- किताबी वृद्धि और पाखंडी भावुकता में है, जो बचपन के सबसे बड़े शत्रु थे, तथाकथित प्रगतिगामी, सत्तालिप्सु जड़वादी सोशल इंजीनियर , राजनेता और लेखक तक अक्सर बच्चों पर न्यौछावर करते दिखाई दे जाते हैं।

जयशंकर प्रसाद के शब्दों का उपयोग करते हुए कहूं तो अंत में यही कहना होगा कि यह जो प्रलय हमारे जीवन-रथ पर चढ़ा हुआ अपने पथ पर अग्रसर है, इससे हमारी होड़ फिलहाल एक हारी हुई होड़ भले दिखे, वह हारी हुई होड़ नहीं हैं। अभी भी नहीं है—सब कुछ के बावजूद। जब तक इस दुनिया में बचपन है, बच्चे हैं, जब तक वयस्क प्रज्ञा के धरातल पर बचपन के निर्दोष आत्मविश्वास और अप्रतिहत कल्पनाशक्ति के आवाह गुंजाइश बनी है, तब तक मनुष्य जाति के लिए भी आशा है और रहेगी।

चूंकि साहित्यकार से अधिक इस वस्तुस्थिति से संवेदित कोई नहीं हो सकता, और चूंकि साहित्यकार की रचना-शक्ति का उत्स उसके भीतर जीवित और सक्रिय 'बचपन' में होता है, अतः हमें उन्हीं से यह अपेक्षा करनी चाहिए कि वे बच्चे के घट में बैठकर, बच्चे की आंखों से इस दुनिया को देखने और दिखने वाले प्रामाणिक बाल-साहित्य की रचना में भी प्रवृत हों क्योंकि वास्तविक प्रामाणिक बाल-साहित्य वही है जो सर्जकों द्वारा रचा जाता है। मात्र बाल-साहित्य के तथाकथित विशेषज्ञों द्वारा प्रस्तुत की गई सामग्री उस गहरी जरूरत को पूरा नहीं कर सकती।

त्रिविधा से साभार

चुटकी भर लाल रंग

पृष्ठ 27 से आगे

कोर्ट से लौटकर श्रीमती जोशी छटपटाती हैं, "वह शादी करके एक लड़की के साथ रह रहा है और हम सबूत तक नहीं जुटा पा रहे।"

"पुलिस से इसके घर छापा पड़वा दीजिए। सबूत अपने आप मिल जाएगा।"

"पुलिस उसके घर गई थी। लेकिन उस दुष्ट ने अपनी पत्नी को चचेरी बहन बता दिया।"

इस मुकदमे की आखिरी आस अब वी.जी. के मकान मालिक पर टिकी हुई है। वह तो वी. जी. को सीखचों के पीछे खड़ा कराने में मदद करेंगे ही। उनकी गवाही सुनने के लिए मैं भी कोर्ट जाती हूं। वह कोर्ट के कटघरे में बोलना शुरू करते हैं, "...जज साहब, वी.जी हीरा लड़का है, हीरा। यह बात सच है कि इन दोनों की लड़ाई में दो रात मैंने और मेरी पत्नी ने इस लड़की को पनाह दी। उसे बंबई से अपने घर तक पहुंचने के लिए रुपये दिए। मुझे बाद में इन दोनों की लड़ाई का कारण मालूम पड़ा। ये लड़की वी.जी. को हाथ तक नहीं लगाने देती थी। उसने इसे समझाया भी था, शादी के पहले इसके साथ कोई दुर्घटना हो गई हो या इसके किसी प्रेमी ने इसे धोखा दिया हो तो वह उसे हाथ भी नहीं लगाएगा। एक साल तक इंतजार कर लेगा फिर भी यह घमंडी लड़की उसे छोड़कर भाग गई।"

मुझे लग रहा है, कोर्ट की एक-एक चीज घूम रही है। मैं ही कुर्सी से उठने में असमर्थ हो रही हूं। इन लांछनों में फंसा दी गई शन्नो की तस्वीर सही है या दस साल मेरी आंखों द्वारा देखी गई या मेरी सहेली व उसकी प्रोफेसर की बात, "जोशी आर वेरी लकी पैरेंट्स। दे हैव गाट ए ब्रिलिएंट डाटर, लाइक शन्नो।"

वी.जी. कोर्ट की तारीख पर कभी आता, कभी नहीं आता। तलाक की अब उसे कोई जल्दी नहीं है। गऊ जैसी पत्नी से पुत्र पाकर वह पिता भी बन गया है। उधर शन्नो ने अपने को व्यस्त कर लिया है।

वह यू.जी.सी. स्कालरशिप पाकर खुश है। हर सेमिनार व कांफ्रेंस में उसके शोध पत्रों की तारीफ होती है। उसके चेहरे से अब कोई नहीं जान पाता कि अकेले में उन खौफनाक यादों के दंश उसे किस तरह छटपटाते हैं।

एक साथ दो बातें होती हैं। शन्नो बेमतलब की शादी से मुक्त हो जाती है। शोध के बाद उसी विश्वविद्यालय में उसे नौकरी मिल जाती है। उसने दिखा दिया है कि चुटकी भर लाल रंग की बैसाखी या कैरोसीन के डिब्बे के बिना भी उसे जीना आता है। लेकिन मैं जब-जब उससे मिलती हूं, उसी खिलखिलाती, लचकती शन्नो को ढूंढने लगती हूं। पता नहीं कहां खो गई है वह! वी.जी ने तो कानून को धता बताकर पहले ही अपना रास्ता निकाल लिया था लेकिन शन्नो की नाव किस किनारे लगेगी, कौन जाने! वह अपनी कर्मठता से लंदन के विश्वविद्यालय में अध्यापन कर रही है। यह तो जरूर है, वह सुखी न भी हुई तो दुखी भी नहीं होगी। ❑

निधन

सांस्कृतिक जड़ता के विरोधी : रामेश्वर शुक्ल 'अंचल'

कवि अंचल जी को **हेमंत कुकरेती** *की श्रद्धांजलि*

रामेश्वर शुक्ल 'अंचल' की सुदीर्घ साहित्य यात्रा एक सृजनात्मक जीवन के अनथक संग्राम को रेखांकित करती है। अंचल जी उन कलमजीवियों में से थे जिनके लिए कविता लिखना सांस लेने जैसा था। उनमें व्यक्ति ही नहीं समाज भी था। अंचल जी के शब्दों में, कविता सामाजिक शक्तियों की अभिव्यक्ति और कवि के सामाजिक अनुभवों की स्वतंत्र वर्णना है। उनके अनुसार, साहित्य मनुष्य और उसकी परिस्थितियों या वातावरण के पारस्परिक संग्राम का व्यक्तीकरण है। साहित्य सृजन अंचल जी के लिए अनिवार्य कवि-कर्म था।

एक मई उन्नीस सौ पंद्रह को किशनपुर, जिला फतेहपुर (उत्तर प्रदेश) में जन्मे अंचल जी लगातार लिखने-पढ़ने वाले कवि थे। 1935 में बी.ए., 1942 में एम.ए. करने के बाद वह राबर्टसन कालेज जबलपुर में लेक्चरर नियुक्त हुए। वहीं रीडर, प्रोफेसर और अध्यक्ष भी रहे। अंचल जी मात्र प्राध्यापक ही नहीं, एक रचनाशील व्यक्तित्व के रूप में भी लोकप्रिय थे।

छायावादी दौर में ही वह कविता करना प्रारंभ कर चुके थे लेकिन उनकी वास्तविक पहचान उत्तर छायावादी गीतकार के रूप में स्थापित हुई। अंचल जी, नरेंद्र शर्मा, शिवमंगल सिंह सुमन, हरिवंशराय बच्चन की भांति छायावाद और छायावादोत्तर युग के संक्रमणशील दौर के कवि थे। ये कवि नई जमीन को तैयार करने वाले स्वच्छंदतावादी कवि थे। इनमें प्रेम था तो उसके विषाद से उपजा आत्मविनाश भी था। यौवन की मस्ती थी तो गरीब जीवन के अभाव भी इनमें थे। अंचल जी समेत बच्चन, शर्मा,सुमन छायावादी बोध से प्रेरित थे, पर प्रगतिशील चेतना से भी इनका सरोकार स्थापित हो रहा था।

अपने काव्य लेखन के प्रारंभिक दौर में ही रामेश्वर शुक्ल 'अंचल' अपनी विशिष्ट मार्मिक गीतात्मक ऊष्मा की छाप छोड़ने लगे थे। उस समय उनकी शृंगारपरक पंक्तियों में मांसल प्रेम के चित्र छायावादी कवियों की अमूर्त्तता तथा रहस्यवाद की सीमा को छूने वाले सूक्ष्म चित्रण से अलग हटकर देखे जा रहे थे :

गमक रही मदभरी मंजरी मधुमूर्ति नवेली
गोरे अंग-अंग में हालाहल अलबेली
ये भी क्या निष्ठुर उमंग है, हे सौंदर्य कुमारी
अब न जलाओ सुलग रहे हैं कितने रूप पुजारी।



'अंचल' जी : युवावस्था में

आलोचकों ने अंचल जी की स्वच्छंद ऐंद्रिय वर्णनों में काम-कुंठाओं की उद्दाम अभिव्यक्ति देखी। *वासना के गान गाते कवि चला सूनी डगर में* तथा *मेरे गान यौवन के मधुमय आख्यान* कहने वाले अंचल जी वस्तुतः आधुनिक मनुष्य की जीवनगत जटिल समस्याओं, काम तथा अर्थ को वास्तविक संदर्भों में व्यक्त करना चाहते थे। हालांकि उसमें आदर्शपरकता भी थी।

साहित्य में विचार एवं कला का साहचर्य मानने वाले रामेश्वर शुक्ल 'अंचल' साहित्य का उद्देश्य मानवीय आजादी की पक्षधरता मानते थे। उनके अनुसार साहित्य सदैव मानव समाज की स्वाधीनता के लिए किया गया विचारात्मक और कलात्मक उद्योग है, जो व्यक्तिवादी समाज में संपूर्ण मानव समाज की सांस्कृतिक स्वाधीनता का प्रवर्तक होता है। स्पष्ट है कि समाज की सांस्कृतिक जड़ता का अंचल जी विरोध कर रहे थे।

समय के साथ उनका लेखन परिपक्व हुआ लेकिन गीतों की ताजगी बरकरार रही। विशेषकर उनके बिंबों के टटकेपन ने (चाहे वह प्रकृतिपरक हों या प्रकृति से इतर) अदृश्य पाठकों और आलोचकों का ध्यान आकृष्ट किया। उनका मानवीयकरण अपनी ही तरह का था और काव्य अर्थ की सघनता थी। उनकी काव्य यात्रा में वैचारिक दृष्टि से कोई ठहराव नहीं आया।

प्रगतिशील आंदोलन के युग में उनकी कविता युगीन अभिव्यक्ति से अछूती नहीं रही। अंचल जी मानते थे कि किसी भी 'देश की कविता के लिए यह असंभव है कि वह वहां के सांस्कृतिक प्रभावों से अछूती रह सके।' उनके प्रगतिवादी स्वर ने काव्य मंचों पर खूब धूम मचाई :

टूटेगी जब नींद तुम्हारी / फूटेंगे किरणों के भाले / ऊंचे-ऊंचे महल गिरेंगे / भू लुंठित होंगे मतवाले। अपने लेखन के इस चरण में वह जीवन के रोमान से ऊपर उठकर उसे नजदीक से समझने पर बल देने लगे थे: 'साहित्य, यदि वह सच्चे अर्थ में प्रगतिशील है, सदैव जीवन को अधिकाधिक निकट से देखेगा और मानवीय उपकरणों के विकास और कल्याण पर जोर देगा।'

गीत : रामेश्वर शुक्ल 'अंचल'

●

कुछ आस लगाए बैठे हो

आजकल के लिए भेजी अंतिम रचना

क्यों व्यर्थ सिसकते सपनों से कुछ आस लगाए बैठे हो,
क्यों व्यर्थ अनुर्वर गीतों में खामोश पड़े रह जाते हो?
कब कौन बुलाएगा तुमको जो कान लगाए सुनते हो,
सुधि की चिर अंधी खोहों की सर्दी में गलने जाते हो।

लौटीं सब पिछली अर्चा में अनुनय, अंजलि की आकृतियां,
अवशेष नहीं अब वंदन का कोई स्वर वापस आने को।
किस ओर अस्वीकृति की तृष्णा छलती रहती विश्वास-भरी,
किस बालू का चित्रित मृगजल बाकी जीवन से जाने को!

क्यों इतना अर्थ दिया भूखे-प्यासे अंतस की भाषा को,
क्यों गोपन मर्म व्यथा को दे दी इतनी गूंज कसकती-सी।
क्यों युग के सारे घाव उतर आए दहकीले भावों में
क्यों बीते-हारे कथ्यों की ध्वनियां गुमनाम तरसती-सी।

वैचारिक धरातल पर रामेश्वर शुक्ल 'अंचल' किसी वाद विशेष के प्रति अति आग्रही नहीं थे लेकिन अपने समय और समाज की जरूरत को समझते थे। इसीलिए उन्होंने यह बहुत ठीक पहचाना था कि शोषक-शोषित, अमीर-गरीब इत्यादि वर्गों में विभाजित समाज में संघर्ष अनिवार्य है। यह उनकी सजग सकारात्मक दृष्टि का सूचक है :

मैं कहता हूं वर्ग चेतना युग की प्रबल चुनौती है।
युग-युग के विकास विश्वासों की रुकी मनौती है।

इस दृष्टि से मार्क्सवादी दर्शन से भी उन्होंने विचार ग्रहण किया। उनके अनुसार, 'प्रगतिवाद को मार्क्सवाद का साहित्यिक मोर्चा कहा जाता है, तो एक प्रगतिवादी के नाते मुझे इसमें कोई असंगति नहीं दीखती।' अंचल जी राजनीतिज्ञ नहीं, कलाकार थे और इस समाज में वह कला की दुर्गति अनुभव करते थे।'कलाकार की बिक्री' कविता में वह कला की पूंजीवादी नियति को उसकी त्रासद मार्मिकता में व्यक्त करते हैं :

अब तक मेरे आदर्शों का स्वप्न न बिल्कुल था मुरझाया।
आज अकंपित पौरुष मेरा धन के आगे बिकने आया।

इस डरावने परिदृश्य को बदलने का अहम संघर्ष उनके प्रगतिवादी कवि के सामने था। उनके अनुसार, 'प्रगतिवादी के सामने सबसे पहली समस्या है उस समाज को बदलने की—सुधार के द्वारा नहीं, वरन साम्यवादी क्रांति के माध्यम से—जो मनुष्य के मनुष्यत्व को पग-पग पर प्रताड़ित करता है। सच्चा प्रगतिशील अनिवार्यतः नकारात्मक शक्तियों का विरोधी होता है। अंचल जी के शब्दों में, 'वह सामंतवाद का विरोधी होता है और जनता की उन्नति के मार्ग में रोड़ा बनने वाले जो इतर वाद हैं, उनका विरोधी होता है।' अपनी काव्य पुस्तकों की भूमिका तथा आलोचनात्मक निबंधों में अंचल जी की मुखर प्रगतिशीलता लक्षित होती है। दुर्भाग्य से उनकी कविता के प्रगतिशील पक्ष का विवेचन अब तक नहीं हुआ। संभवतः इनके साहित्येतर कारण हैं जिनके जवाब साहित्य की राजनीति में निहित हैं। यह स्पष्ट है कि अंचल जी की कविता युगीन संदर्भों से रहित नहीं है। यह अवश्य है कि उनकी कविता की मुख्यधारा गीतपरक थी। वह मंच से भी जुड़े रहे लेकिन सस्ती मंचीय लोकप्रियता से उन्हें परहेज था।

प्रेम के मांसल सौंदर्य तथा प्रबल विरह भावना से युक्त कविता से प्रारंभ करने के बाद प्रगतिशील सौंदर्य भी अंचल जी ने प्रस्तावित किया।

मधूलिका (1938), *अपराजिता* (1939), *प्राथमिका* (1959), *किरणबेला* (1941), *करील* (1942), *लाल चूनर* (1944), *वर्षांत के बादल* (1954), *विरामचिह्न* (1958), *प्रत्यूष की भटकी किरण यायावरी* (1963), *अपूर्वा* तथा अंतिम प्रकाशित संग्रह *इन आवाजों को ठहरा लो* के अतिरिक्त अंचल जी ने *शीलजयी, त्यागपथी, ज्योतिपुरुष* इत्यादि खंडकाव्य भी लिखे। साहित्य की अन्य विधाओं—उपन्यास, कहानी, संस्मरण, आलोचना में भी वह सक्रिय रहे। उन्हें उत्तर प्रदेश के हिंदी साहित्य सम्मान तथा अनेक साहित्यिक पुरस्कारों से सम्मानित किया गया। अस्सी वर्ष की उम्र में 13 अक्तूबर, 1995 को भोपाल में एक आयोजन में उन्होंने अंतिम सांस ली। हिंदी की छंद-धर्मा कविता को प्रभावित करने वाले अंचल जी की कविता हमारे साथ हमेशा रहेगी। ❑

मुलाकात

पृष्ठ 47 से आगे

कविता का प्रवाह अबाध गति से चल रहा था। पता नहीं यह कब तक थमे। दादा किसी भी समय आ सकते हैं। बुरा वक्त पूछकर नहीं आता अब क्या किया जाए, कुछ तो करना ही पड़ेगा, क्या करूं? मैं सोच में डूब गया। निर्णय लिया—दादा आएं इससे पहले हमें निकलना होगा। अचानक मैं उठकर खड़ा हो गया और मिश्रा से बोला," अब हमें चलना चाहिए मिश्रा जी।"

मिश्रा जी का सिर मेरी तरफ उठा और उसने मुझे ऐसे घूरा जैसे मैं कोई भुनगा हूं, लेकिन स्थिति को भांपकर वह मुस्कराने लगा।

"शिवानी जी से फिर कब मिलना होगा? बैठो। अभी चलते हैं" आंख के संकेत से मुझे बैठने का आदेश देकर वह फिर शिवानी की तरफ मुखातिब हुआ। मैं पूरी दृढ़ता के साथ खड़ा ही रहा।

"ऐसी भी क्या जल्दी है। तुम्हारा दोस्त कह रहा है तो मान जाओ बेटा.....शिवानी के दादा जी छः से पहले नहीं आने वाले।" मां ने जब मुझे बेटा कहा तो आत्मीय संबोधन ने मुझे जड़ बना दिया, मैं मन मारकर बैठ गया।

हम लौटते-लौटते छः बज गए, शिवानी और मां हमें दरवाजे तक छोड़ने आई थीं। मेरा मन भारी हो गया था और बहुत दूर तक हम यूं ही चलते रहे, किसी ने कोई बात नहीं की। तीसरी गली के मोड़ पर मेरे कंधे पर हाथ रखता हुआ मिश्रा बोला, "कहो कैसी रही हमारी इस कविता की प्रशंसिका से मुलाकात।"

मैंने कोई जबाव नहीं दिया। मिश्रा के नथूने हल्के से फड़के थे जो उसके गर्व को व्यक्त कर रहे थे और उसकी गर्दन फिर तन गई थी। ❑

व्यंग्य

हिंदी में अद्वैतवाद

सुनील विक्रम सिंह

हिंदी साहित्य के एक तथाकथित श्रेष्ठ विद्यार्थी ने डाक्टर शिवमंगल सिंह सुमन और डाक्टर शिवप्रसाद सिंह को एक समझा। चमत्कृत हुआ मैं उनकी नव्य अद्वैतवादी दृष्टि से। शंकर के अद्वैतवाद का प्रभाव हमारे जीवन के विविध क्षेत्रों पर पड़ा है। यदि आचार्य शंकर पृथ्वी पर अचानक अवतरित हो जाएं तो उन्हें इस स्थिति को देखकर ब्रह्मानंद की अनुभूति होगी। वैसे दो व्यक्तियों को एक ही व्यक्ति समझना किसी प्रकार की भूल नहीं है बल्कि यह तो एक समत्व दृष्टि है। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग को ऐसे होनहार विद्यार्थियों को विशेष पुरस्कार देकर सम्मानित करना चाहिए।

जिस प्रतिभाशाली छात्र का मैंने जिक्र किया है वह 'पूर्व के आक्सफोर्ड' इलाहाबाद विश्वविद्यालय के छात्र हैं और देश की सर्वोच्च सेवा आई.ए.एस. के दावेदार हैं। किसी विश्वविद्यालय या संस्था को कभी-कभी यह अहसास हो जाता है कि प्रतिभाएं केवल हमारे यहां हैं। जिस तरह पृथ्वी वीरों से खाली नहीं है, उसी तरह यह देश अद्वैतवादी प्रतिभाओं की कांति से देदीप्यमान है। उनके यश की धवल रश्मियां अखिल ब्रह्मांड में फैली हुई हैं। ज्ञान का यह दीप सतत जल रहा है। विष्णु प्रभाकर, प्रभाकर माचवे और कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर में फर्क न कर पाना केवल विद्यार्थियों का ही इस विषय पर विशेषाधिकार नहीं है बल्कि बहुत से प्राध्यापकों, पत्रकारों और आई.ए.एस. अधिकारियों को यह विशेषाधिकार प्राप्त है। सौभाग्य से इस देश में केवल परीक्षाओं को पास कर लेना ही प्रतिभा का मापदंड मान लिया गया है।

विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, विश्वनाथ त्रिपाठी, विश्वनाथ प्रसाद तिवारी और विश्वनाथ सचदेव में फर्क न कर पाना हिंदी साहित्य में असामान्य बात नहीं है।

अभी कुछ वर्ष पूर्व समाचार पत्रों में छपा था कि प्रसिद्ध गीतकार रामविलास शर्मा नहीं रहे। तहलका मच गया। कई लोगों ने मुझसे पूछा। उनके अनुसार प्रसिद्ध आलोचक डा. रामविलास शर्मा अब हमारे बीच नहीं रहे। प्रसारित होने वाले समाचार से भी डा. रामविलास शर्मा के निधन का समाचार मिला। एक विश्वविद्यालय के कुछ प्राध्यापकों ने तो डा. रामविलास शर्मा के सम्मान में शोकसभा का आयोजन कर डाला। धन्य हैं डा. रामविलास शर्मा और धन्य हैं हिंदी प्राध्यापक! रामविलास शर्मा जी इसलिए धन्य हैं कि उन्हें जीते जी जो सम्मान मिला वह बहुतों को मरने पर भी नहीं मिलता। हिंदी के प्राध्यापक और समाचार माध्यम इसलिए धन्य हैं कि उन्होंने एक अचर्चित व्यक्ति को चर्चित बना दिया। दोष उनका नहीं है। जब शिवमंगल सिंह सुमन और शिवप्रसाद सिंह को एक ही व्यक्ति समझा जा सकता है तो गीतकार रामविलास शर्मा को डा. रामविलास शर्मा समझकर लोगों ने कौन-सा गुनाह कर डाला!

जीवन और ब्रह्म वस्तुतः एक ही हैं, यह बात हमारे मनीषी कह गए हैं। हर जीवन में ब्रह्म निवास करता है। क्या फर्क पड़ता है यह मानने में कि अमुक और अमुक व्यक्ति एक हैं! हम परंपरा के संवाहक हैं। हमने भारतीय दर्शन की जीवंत परंपरा को बरकरार रखा है। हिंदी साहित्य के उस विद्यार्थी ने वस्तुतः हमें अपनी परंपरा से जोड़ा। ऐसे होनहार छात्रों पर मुझे गर्व है। ❑

दो गज़लें : विज्ञान व्रत

एक

मंजिल तक पहुंचाने वाला
निकला ख्वाब दिखाने वाला

सूरज से तो कम क्या होगा
मुझको राह दिखाने वाला

हमको भूल सके तो जानें
याद हमें रह जाने वाला

मेरे कद का हो तो आए
मुझसे हाथ मिलाने वाला

सबको हमदम-सा लगता है
अपना दर्द छुपाने वाला।

दो

मैं बस्ती हो जाने तक
पहुंचा हूं वीराने तक

फर्ज अदा हो आने तक
जिंदा हूं मर जाने तक

मेरा चर्चा तुझ-मुझ से
पहुंचा एक जमाने तक

मैंने खुद को ढूंढा है
खुद में गुम हो जाने तक

इस महफिल में रहना है
अपना साथ निभाने तक।

बालोपयोगिता का सवाल

चेतन

बच्चों की अपनी दुनिया सामान्यतः एक अस्थायी दुनिया होती है लेकिन कुछ लोगों के भीतर वह स्थायी प्रभाव के साथ हमेशा-हमेशा के लिए, उनकी उम्र के आखिरी पड़ाव तक, ठहरकर रह जाती है। यही लोग जब लेखक के रूप में काम करते हैं तो उनका लेखन आमतौर पर बच्चों के लिए भी पठनीय हो जाता होगा। यह एक अनुमान है जिससे पूरी तरह पता नहीं चलता कि वास्तव में बच्चों का लेखक कौन होता है। और उसमें या उसके लेखन में वे क्या खूबियां होती हैं जो उसे बाकी वयस्क लेखकों और लेखन से अलग करती हैं। लेकिन यह तय है कि बालोपयोगी लेखन में उन लोगों की भूमिका हमेशा महत्वपूर्ण रहती है जो मन और आत्मा से हमेशा बच्चों की 'दूसरी दुनिया' में रहते हैं। ऐसे लोग पाठक के रूप में अक्सर बाल-साहित्य में असाधारण रुचि भी रखते पाए जाते हैं।

तो क्या बाल-साहित्य उस लेखन को कहते हैं जो वयस्क बच्चों के द्वारा लिखा और पढ़ा जाता है? लेकिन सवाल सिर्फ यही नहीं है। ऐसे कई प्रश्न हैं जो बाल-साहित्य के दायरे में उठ सकते हैं। मसलन, बच्चे कौन होते हैं? बच्चों की हैसियत से वे अपने बड़ों से क्या चाहते हैं? किस रूप में चाहते हैं? और यह कि हमारी वयस्कोन्मुख समाज-व्यवस्था में बच्चों की भूमिका क्या और कितनी महत्वपूर्ण होती है? और जैसा कि इधर हम देख रहे हैं, बच्चों की दुनिया उतनी आसान अब नहीं रही है। समाज के आधुनिक नागरिक मानदंड उनके व्यक्तित्व और मनोरचना को निरंतर जटिल और वयस्कोचित बनाते जा रहे हैं। पेचीदा इलैक्ट्रानिकी से परिचालित खेल-खिलौनों से लेकर आरंभिक स्कूली शिक्षा तक उनके दिमाग के लिए अनेक भारी और श्रमसाध्य चीजें समाज ने स्वीकृत की हैं, बिना इस बात का ख्याल किए कि भविष्य के उन वयस्कों पर इसका क्या असर पड़ेगा। इलैक्ट्रानिक माध्यमों की घरेलू पहुंच ने एकाएक उन्हें ऐसी वयस्क दुनिया के सम्मुख खड़ा कर दिया है जिसे हमारे भारतीय समाज में सामान्यतः वयस्कों के लिए भी अग्राह्य और अनुचित माना जाता रहा है, अर्थात सैक्स और हिंसा के बाजारू और बिकाऊ दृश्य। ऐसा नहीं है कि टेलीविजन और फिल्मों में बच्चों के लिए कुछ होता ही नहीं है। होता है, लेकिन बहुत कामचलाऊ और अपर्याप्त। जो होता है उनमें भी वयस्कों की दृष्टि ही प्रधान होती है या फिर बाल मनोविज्ञान की खतरनाक और उबाऊ नासमझी वहां दिखाई देती है। बेशक, बच्चों के असमय वयस्कीकरण की प्रक्रिया एक साजिश भी हो सकती है और हम कह सकते हैं कि यह बहुत तेजी से सफल भी हो रही है। अर्थात बच्चे एक वयस्क फिल्म देखने के बाद कोई बाल-कार्यक्रम देखने के बजाय वीडियोगेम खेलना पसंद करने लगे हैं जिसमें रफ्तार और हिंसा का 'रिमोट कंट्रोलर' पूरी सुरक्षा के साथ उनके अपने हाथ में आ जाता है।

ऐसे में बाल-साहित्य (जिसका अभिप्राय बालोपयोगी पुस्तकों से होना चाहिए, आज यह माध्यम-गत वर्गीकरण जरूरी है) और भी ज्यादा चुनौतीपूर्ण और कठिन हो जाता है। यानी हम न चाहते हुए भी सबसे पहले उसी भूमिका में अपने को पाते हैं जिससे बाल-साहित्य पर विचार करते हुए हम अब तक बचने पर जोर देते आए हैं। वह भूमिका एक कठोर, नैतिकतावादी और शुद्धतावादी शिक्षक की है। साहित्य की बालोपयोगिता को बढ़ाने में यह सबसे बड़ी बाधा रही है जिसके चलते बच्चों के लिए पुस्तक गुरुजी की बेंत जैसी ही कोई पीड़ाजनक चीज बनकर रह गई। लेकिन आज हमारी मजबूरी है कि पुस्तक देने से पहले हमें बच्चों को टी.वी. बंद करने के लिए कहना होगा। पुस्तक में क्या है, यह सवाल इसके बाद उठने वाला है लेकिन बहुत संभव है कि इससे पहले ही बच्चा हमारे खिलाफ हो जाए।

खेल-तमाशे और नाटक उस खतरे से बचने के अच्छे उपाय हो सकते हैं। यानी बाल-उपन्यासों और बाल-कथाओं के बजाय अगर ऐसे नाटक लिखे जाएं जिन्हें बच्चे खुद खेल सकें तो ज्यादा उपयोगी होगा, क्योंकि खेल के मैदानों और समय की भयानक कमी होने के बावजूद अभी भी बच्चे खेलना चाहते हैं और साहित्य में नाटकों से बेहतर कोई खेल उनके लिए नहीं हो सकता। लेकिन ऐसे नाटकों की हिंदी में ही नहीं, लगभग सभी भाषाओं में भारी कमी है। उस कमी को भरने के लिए लेखकों के एकीकृत प्रयास की जरूरत है। वे लेखक जो बच्चों के लिए कहानियां और कविताएं लिख रहे हैं, नाटक भी लिखें क्योंकि नाटक, खासकर आज उनके लिए ज्यादा स्वीकार्य और मनोरंजक विधा है। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि बच्चों को सही शिक्षा के साथ बड़ा करने से भी ज्यादा आवश्यक आज उन्हें एक सामाजिक इकाई के रूप में बचाकर रखना है। एक सामाजिक संस्था के रूप में बचपन की सुरक्षा ज्यादा जरूरी है क्योंकि मौजूदा विश्व के सारे प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष युद्ध अंततः उसे घातक ढंग से प्रभावित कर रहे हैं। इसलिए इनके लिए एक समानांतर मनोरंजन की महती आवश्यकता है। नाटक की खेल सुलभ प्रकृति में यह मनोरंजन आसानी से उपलब्ध कराया जा सकता है।

भारत में बाल नाटकों की कमी को ध्यान में रखते हुए एशिया और प्रशांत क्षेत्र के चौदह देशों के चुनिंदा बाल नाटकों का एक संकलन इधर नेशनल बुक ट्रस्ट से हिंदी में आया है। इसमें भारत के अतिरिक्त आस्ट्रेलिया, बर्मा, चीन, इंडोनेशिया, ईरान, जापान, मलेशिया, नेपाल, फिलीपीन्स, कोरिया, सिंगापुर, श्रीलंका, और थाइलैंड में प्रचलित नाटकों को संकलित किया गया है। पहले यह पुस्तक अंग्रेजी में *टुगेदर इन ड्रामा लैंड* नाम से 'एशियन पेसिफिक को-पब्लिकेशन प्रोग्राम' (ए सी पी) के अंतर्गत छपी थी। *नाटकों के देश में*[1] उसी पुस्तक का हिंदी संस्करण है। इस पुस्तक से हमें बच्चों के लिए नाटकों के बारे में सबसे महत्वपूर्ण बात यह पता चलती है कि सिर्फ नाटक लिखना भी पर्याप्त नहीं है। जब तक बच्चे मंच पर जाकर उसे खेलना

न शुरू कर दें तब तक लेखक की भूमिका बनी रहती है। मंच और वेशभूषा आदि की पूरी योजना यानी खेल की पूरी तैयारी का दायित्व लेखक पर ही होता है। होना भी चाहिए क्योंकि हर जगह उन्हें कोई सुलझा हुआ निर्देशक उपलब्ध नहीं हो सकता। वयस्कों के नाटकों से बच्चों के नाटक इस मायने में अलग माने जाने चाहिए कि वे निर्देशक का माध्यम नहीं होंगे, वे अभिनेताओं के लिए माध्यम से भी ज्यादा उनका अपना खेल होंगे, उनके अपने लिए। लेखक की जिम्मेदारी यही है कि वह अपनी नाटक पुस्तक में वह सारा विवरण उन्हें उपलब्ध कराए जिसके लिए वे किसी निर्देशक पर निर्भर हो सकते हैं। जैसा कि इस पुस्तक में किया गया है। वेशभूषा में कपड़ों की डिजाइन, उन्हें बनाने की विधि, मुखौटे और उनके निर्माण की भी विधि, साथ में मंच की पूरी व्यवस्था, प्रवेश और निकास के लिए आवश्यक सभी निर्देश तथा जरूरी सामान की सूची आदि का सचित्र विवरण। ये बालोपयोगी नाटक की प्राथमिक आवश्यकताएं हैं जिनकी पूर्ति लेखक ही से अपेक्षित है।

नाटकों के विषय और उनकी संरचना का नंबर उसके बाद आता है और यहां हमें वे सभी सावधानियां बरतनी पड़ेंगी जो अन्य विधाओं यानी उपन्यासों, कहानियों और कविताओं आदि के लिए भी प्रासंगिक हैं। लेकिन उनसे कुछ ज्यादा गंभीरता के साथ क्योंकि नाटक बच्चों के खेलने के लिए है, सिर्फ पढ़ने के लिए नहीं। ऊपर संदर्भित पुस्तक से इस संदर्भ में भी हमें कई निष्कर्ष मिल सकते हैं। जैसे यह कि लंबी और जटिल फैंटेसियां बच्चों के नाटकों के लिए उपयुक्त नहीं हो सकतीं। पुस्तक में एक जटिल फैंटेसी-नाटक विजय तेंदुलकर लिखित 'बाबी' है। इसमें अत्यंत कामकाजी और व्यस्त माता-पिता की अकेली बेटी को दिखाया गया है जो मम्मी-पापा के इंतजार के दौरान तरह-तरह की ऊलजलूल कल्पनाएं करती है। बेशक यह एक बड़ी समस्या है और बच्चों की समस्या है। लेकिन फिर भी बच्चों के लिए विचारणीय नहीं है। वे उस पर विचार नहीं करेंगे। नाटक में बाबी को उन तमाम बच्चों की प्रतिनिधि के रूप में पेश किया गया है जो भागमभाग वाली वयस्क जिंदगी के बीच भयावह अकेलेपन को झेल रहे हैं। विषय की प्रकृति से ही यह वयस्क दर्शकों के सम्मुख मंच पर बच्चों द्वारा अभिनय नाटक लगता है और यह निश्चय ही बच्चों के लिए एक कठिन काम होगा कि वे खेलने के बजाय अपनी किसी समस्या को ठीक उसी तरह पेश करें जैसे मजदूर या कोई अन्य तबका किसी कला माध्यम के जरिए अपनी समस्या समाज के सम्मुख रखता है।

उपदेशों की बहुलता और ज्यादा जोर जानकारी पर देने वाले कथानक भी बहुत सफल नहीं हो सकते। उनमें भी बच्चों की अरुचि पैदा हो जाने का खतरा रहता है। सबसे ज्यादा रुचिकर उनके लिए वही नाटक हो सकते हैं जिनके माध्यम से वे उस वातावरण में आसानी से जा सकें जो उनके लिए जिज्ञासा और कौतूहल पैदा करते हैं, जैसे जंगल और परीलोक आदि। पशुओं और पक्षियों की भूमिका वाले कथानकों में नाटकीयता की संभावना भी बहुत अधिक होती है जिससे ज्यादा से ज्यादा मनोरंजन सुलभ होगा। आलोच्य नाट्य आयोजन में ऐसे कई नाटक हैं जिनमें विचित्र और दिलचस्प पात्रों के साथ बच्चे अपना उत्साह और शरारतें मंच के प्रति बहुत ज्यादा कांशस हुए बिना बांट सकते हैं।

बच्चों के नाटक बच्चों के ही लिए होते हैं, बड़े उन्हें नहीं खेल सकते। लेकिन बाल कथा साहित्य बाकायदा बड़ों के द्वारा भी पढ़ा जाता रहा है। अंग्रेजी में जहां बाल-साहित्य हिंदी के मुकाबले कहीं ज्यादा समृद्ध है, ऐसे कई क्लासिक हैं जिनको आज भी वयस्क लोग बड़े चाव से पढ़ते हैं। *द सेक्रेड गार्डन एलिस, वाटरशिप टाउन* और *विनी द पूह* वहां ऐसे लोकप्रिय हैं जैसे चार्ल्स डिकेन्स के उपन्यास या शेक्सपीयर के नाटक। ये सब बच्चों के उपन्यास हैं लेकिन वयस्कों में भी उनकी लोकप्रियता कम नहीं है। यह हमारा दुर्भाग्य है कि भारत में इस कोटि का बाल-साहित्य बहुत ज्यादा नहीं है। हिंदी में तो और भी कम। जो है उसमें भी आर.के. नारायण ही प्रमुख हैं और वह भी अंग्रेजी में लिखते हैं। लेकिन उनकी कल्पित नगरी मालगुडी और उसका नटखट बाशिंदा स्वामी आज भाषा और क्षेत्र की सीमाओं को लांघकर लगभग पूरे शिक्षित भारतीय समाज के लिए जाने-पहचाने नाम हैं। टी.वी. पर धारावाहिक रूप में *मालगुडी डेज* के प्रसारण के बाद बच्चे और वयस्क सभी उनसे परिचित हो चुके हैं। स्वामी और उसके दोस्तों की कारगुजारियों का विवरण देती एक कथा पुस्तक का हिंदी अनुवाद *स्वामी और उसके दोस्त*[2] शीर्षक से है। उसमें वे सभी खूबियां हैं जिनके लिए आर. के. नारायण को जाना जाता है, यानी किशोर मनोविज्ञान पर गहरी पकड़, सजीव वातावरण और कथानक की सरल, व्यंग्यात्मक भाषिक अभिव्यक्तियां। टी.वी. धारावाहिक में इन सबको ठीक उतनी ही जीवंतता के साथ नहीं समेटा जा सका था, जितना यहां पुस्तक रूप में उपलब्ध है।

लेकिन खेद के साथ ही सही, हमें यह मानना पड़ेगा कि आर.के. नारायण के लंबे विवरण उत्तर भारत हिंदी किशोर मन के लिए ठीक उसी तरह आस्वाद्य नहीं हो सकते जिस तरह दक्षिण के अंग्रेजीभाषी किशोरों के लिए वे रहते आए हैं। कारण यहां बाल-साहित्य और किशोर पठनीयता की किसी परंपरा का न होना भी हो सकता है और शिक्षा का अभाव भी। खासतौर से ऐसी शिक्षा का जो बच्चों को साहित्यिक अभिरुचि से जोड़ती है। जाहिर है कि यह कमी आर.के. नारायण या उनके लेखन की नहीं है। हमारा मकसद यहां इस तथ्य की ओर इशारा करना है कि बाल-साहित्य के विकास और समृद्धि का सवाल निश्चित रूप से समुचित और सर्वांगीण दृष्टिकोण वाली शिक्षा से भी जुड़ा हुआ है। ऐसे देश में जहां करोड़ों बच्चे स्कूल न जाकर मजदूरी के लिए जाते हैं, बाल-साहित्य पर निरपेक्ष रूप से बात करना लगभग अपराध की कोटि की मूर्खता होगी। जब तक हर बच्चे को अनिवार्यतः शिक्षा उपलब्ध नहीं होगी और शिक्षा की आधार-रचना में भी मूलभूत परिवर्तन नहीं होंगे तब तक आर.के. नारायण जैसे अत्यंत संवेदनशील बाल-साहित्य के रचनाकार हिंदीभाषी पाठक वर्ग में जगह नहीं बना सकते।

आर.के. नारायण से कुछ कम साहित्यिक लेखन रस्किन बांड की एक पुस्तक *रस्टी के कारनामे*[3] है और यह इसलिए ज्यादा लोकप्रिय हो सकती है कि इसमें आर.के. नारायण जैसे साहित्यिक विवरण नहीं हैं। कुछ-कुछ सनसनी को छूती हुई सीधी घटनात्मकता इस पुस्तक के कथानक को किशोर के लिए ज्यादा पठनीय बनाती है। लेकिन बस यही इसकी सीमा है। देहरादून, दिल्ली और जामनगर जैसे वास्तविक नगरों के माध्यम से रस्टी अपने समाज के बारे में उतना नहीं बता पाता जितना काल्पनिक कस्बे मालगुडी का स्वामी बता देता है। कोई आश्चर्य नहीं कि अपनी इस संदर्भहीनता के चलते यह पुस्तक हिंदीभाषियों के उस समुदाय के बच्चों द्वारा ज्यादा पसंद की जाए जिनकी मानसिक संरचना अंग्रेजी वातावरण में गढ़ी गई है। हालांकि मूल कथासूत्र के लिहाज से ये दोनों पुस्तकें समान रूप में दिलचस्प हैं।

यहां सवाल यह उठ सकता है कि क्या बाल-साहित्य में सामाजिक संदर्भों का होना आवश्यक है और क्या इनसे भी हमें उसी तरह नहीं बचना चाहिए जैसे उपदेशों और जानकारियों की बहुलता से? जवाब है, नहीं। क्यों? क्योंकि पहले तो सामाजिक संदर्भ कथानक को बोझिल नहीं बनाते। वे सिर्फ उसे थोड़ा गहरा कर देते हैं जिसके लिए दिमागी परिश्रम की नहीं, बल्कि हार्दिक संलग्नता की जरूरत होती है। अपनी-अपनी प्रकृति में ये दोनों चीजें अलग-अलग होती हैं। ज्ञान और नैतिकता सिखाने के लिए जहां आपको

बच्चे के साथ बल प्रयोग भी करना पड़ सकता है वहां सामाजिक संवेदनशीलता और उत्तरदायित्व की भावना जगाने के लिए आपको सिर्फ ऐसे वातावरण की रचना करनी होती है जो बच्चों की सामाजिक दृष्टि को प्रेरित करता हो। मतलब कि तब आपको अपने व्यक्तित्व, अपने परिवार और समाज से कुछ उदाहरण पेश करने होंगे, बस।

कथानक में सामाजिक संदर्भों के महत्व का दूसरा कारण भी इसी में निहित है। वह यह कि इससे हम बच्चों को बिना उबाए और बिना पीटे बड़ी आसानी से एक ऐसे भावी नागरिक की कल्पना कर सकते हैं जो अपने समाज और अपनी भूमि के प्रति सहृदय और प्रेमपूर्ण नजरिया रखता हो। रस्किन के रस्टी से ऐसी कोई उम्मीद नहीं की जा सकती। वह इसी उम्र में अत्यंत व्यक्तिवादी 'एडवेंचरिज्म' का शिकार है।

इस नजरिए से लिखी कथाओं और ज्ञान प्रधान पुस्तकों के फर्क को समझना भी इस संदर्भ में जरूरी है। फर्क यह है कि ऐसी कथाएं हमेशा ही बच्चे को सामाजिक अलगाव का शिकार बना सकती हैं जबकि ज्ञान-विज्ञान ऐसा नहीं करता। वह अतिरेक हो जाने पर बच्चे के लिए सिर्फ बोझ बन जाता है जिससे बच्चे के विद्रोही या कुंठित हो जाने का खतरा हो जाता है। यूं बच्चों में प्रकृति और उसके उपादानों के प्रति सहज जिज्ञासा होती है जिसके लिए सरल व रोचक पुस्तकें हमेशा प्रासंगिक रही हैं। बच्चे उन्हें पढ़ना भी चाहते हैं लेकिन हमेशा और हर जगह नहीं।

कछुए और मगर[4] एक ऐसी ही पुस्तक है। यह भी अंग्रेजी से अनूदित है। इसमें कछुओं तथा मगरमच्छों के बारे में ढेर सारी सचित्र जानकारी दी गई है। पर्यावरणीय संतुलन के लिहाज से यह पुस्तक अत्यंत उपयोगी है और जैसा कि हममें से कोई भी इंकार नहीं कर सकता, अगली सदी के प्रथम दशक के नागरिकों के लिए पर्यावरणीय जागरूकता के लिए भी हम बच्चों को उपदेशपरक नारेबाजी के जाल में न फंसने दें, न खुद ऐसी कोशिश करें। उन्हें सिर्फ प्रकृति और उसके विभिन्न सजीव-निर्जीव पोषकों-पालकों के बारे में जानकारी दी जाए। यानी उन्हें सिर्फ यह बताया जाए कि अभी तक प्राकृतिक संतुलन किस तरह कायम था और जो हमारी गलतियों के कारण अब गड़बड़ा रहा है। बाकी फैसला उन पर छोड़ दिया जाए। यह पुस्तक उस लिहाज से एक अच्छा उदाहरण है।

ऊपर जिन पुस्तकों के बहाने से हमने बाल-साहित्य पर चर्चा की, वे सभी अंग्रेजी से अनूदित थीं। चर्चा का अंत हम हिंदी की दो मौलिक बालोपयोगी पुस्तकों से करेंगे। एक पुस्तक है *डाक बाबू का पार्सल* (द्रोणवीर कोहली) और दूसरी है हिंदी के कवि, लेखक और समीक्षक प्रयाग शुक्ल की *हक्का बक्का*[5]। इसमें शिशु गीत संकलित हैं जिन्हें आमतौर पर अंग्रेजी शब्दावली में 'नर्सरी राइम' के नाम से जाना जाता है।

इन पुस्तकों को हम हिंदी बाल साहित्य की प्रतिनिधि रचनाएं तो नहीं कह सकते। हां, उसके बारे में एक सामान्य अनुमान इनसे जरूर संभव हो सकता है। पहले प्रयाग शुक्ल के शिशु गीत लें। उनके बारे में सिर्फ यही कहा जा सकता है कि आमतौर पर विषयों के जिस दायरे में शिशु गीत रहते आए हैं ये गीत भी उससे बाहर नहीं हैं। नाना-नानी, गेंद, रेलगाड़ी, स्कूल, बारिश, बादल आदि के संबंध में भोली-भाली और सरल अभिव्यक्तियों के गीत। हिंदी में ऐसा कोई भी लेखक नहीं है जिसे सिर्फ बाल-साहित्य के लिए जाना जाता हो। बालोपयोगी लेखन का अधिकांश अखबारों में लिखने वाले स्वतंत्र लेखकों और पत्रकारों द्वारा लिखा जाता है जिसमें सामान्यतः मौलिक सूझ और नया कुछ करने की गंभीर कोशिश अपेक्षित नहीं होती। परिणाम यह होता है कि नैतिक आग्रहों और सीख देने वाले प्रचलित मुहावरे ही बार-बार दोहराए जाते रहते हैं। कविता और कहानी दोनों की स्थिति यही है। उस अगंभीरता के चलते अपनी भाषा में बाल-साहित्य के लिए वातावरण बन ही नहीं पा रहा है। उसका एक उदाहरण पिछले दिनों देखने को मिला जब एक प्रकाशक ने प्रेमचंद के उपन्यासों के किशोरोपयोगी संक्षिप्त संस्करण प्रकाशित किए। यह स्थिति कितनी हास्यास्पद है और दयनीय भी कि एक ही पुस्तक वयस्कों के लिए भी है और उसी पुस्तक को प्रकाशक ने सिर्फ इसलिए कि उसके कापीराइट की अवधि खत्म हो गई है, किसी भी तरह तोड़-मरोड़कर किशोरोपयोगी साहित्य के रूप में बेचना शुरू कर दिया है।

लेकिन इसके लिए सिर्फ प्रकाशक जिम्मेदार नहीं है, हिंदी बाल साहित्य की कंगाली भी उतनी ही जिम्मेदार है। यह कंगाली मात्रात्मक और गुणात्मक दोनों रूपों में हमारे यहां मौजूद है। *डाक बाबू का पार्सल*[6] गुणात्मक कंगाली का उदाहरण है। इस बाल कथा का कथानक अपने सारे वर्णन कौशल के बावजूद बच्चों के लिए भी आनंददायक नहीं हो पाता। सबसे बड़ी कमी है तार्किक विश्वसनीयता की जो निश्चय ही लेखक की असावधानी और कामचलाऊ नजरिए के कारण आई होगी। यही दोनों बातें बच्चों के लिए लिखने जा रहे ज्यादातर हिंदी लेखकों में प्रमुखतया पाई जाती है।

डाक बाबू का पार्सल की सारी कथा और उसमें आए विवरण हमारी (और बच्चों की भी) यथार्थ दुनिया से उठाए जाते हैं लेकिन जिस बिंदु के गिर्द यह सारी कथा बुनी जाती है वह किसी फैंटेसी का हिस्सा लगती है। कहानी यूं है कि एक पत्थर को हिमाचल प्रदेश की एक घाटी से एक बच्चे द्वारा उठा लिया जाता है जो उसे लेकर दिल्ली की अलकनंदा बस्ती में आ जाता है। पत्थर के बाकी साथी पत्थर वहीं घाटी में रह जाते हैं जिनकी याद में वह रात में सिसकियां भरता है और वापस पहुंचा दिए जाने की प्रार्थना बच्चे से करता है। बच्चा जिसका नाम सुरेश है, उस पत्थर को वापस उस गांव के डाक बाबू के नाम पार्सल कर देता है जिस गांव के पास वाली घाटी से उसने उसे उठाया था और जब डाक बाबू पत्थर को वापस घाटी में रखते हैं तो उन्हें पत्थरों के हंसने की आवाजें सुनाई देती हैं।

पत्थरों का यह हंसना और रोना शेष कथानक के साथ जबर्दस्ती जोड़ी गई एक अविश्वसनीय चीज इसलिए लगता है कि बाकी कहानी में कहीं न तो कोई पेड़ गीत गाता है और न ही पानी का झरना आदमी का रूप धारण करके जंगल की सैर को निकलता है। वहां सारे पात्र आदमियों की तरह के आदमी हैं उनकी सारी गतिविधियां भी वैसी ही हैं लेकिन पत्थर अचानक अपनी जड़ता और निर्जीवता छोड़कर हंसने-रोने और बोलने लगते हैं। यही अविश्वसनीय लगता है। और दुर्भाग्य से हिंदी के ज्यादातर बाल लेखन में ऐसी चीजें आमतौर पर देखने को मिल जाती हैं। ❑

---

1. **नाटकों के देश में** : *एशिया और प्रशांत क्षेत्र के बाल नाटक;* मूल्य : 23 रुपये
2. **स्वामी और उसके दोस्त** : आर.के. नारायण; मूल्य : 21 रुपये
3. **रस्टी के कारनामे** : रस्किन बांड; मूल्य : 18 रुपये
4. **कछुए और मगर** : इंद्रजीत दास, जई और राम विटटेकर; मूल्य : 7.50 रुपये
5. **हक्का बक्का** : प्रयाग शुक्ल; मूल्य : आठ रुपये
6. **डाक बाबू का पार्सल** : द्रोणवीर कोहली; मूल्य : 12 रुपये

सभी के प्रकाशक : नेशनल बुक ट्रस्ट, ग्रीन पार्क, नई दिल्ली।

अच्छे बाल-साहित्य के लिए

कृष्ण कल्कि

हिंदी का बाल-साहित्य अब भी बहुत-कुछ फैशन जैसा ही है। मुख्यधारा की तमाम पत्र-पत्रिकाओं में निखालिस बच्चों के मतलब की चीजें अब भी बतौर प्रचलन ही शामिल-शुमार हुआ करती हैं। जागरूक और जिम्मेदार नागरिक बनने की दिशा में नौनिहालों को प्रेरित-प्राणित करने वाली सामग्रियों के बजाय जूड़े बांधने के तौर-तरीके समझाना तथा काजल की कोठरी में कदम-कदम पर लड़खड़ाते राजनेताओं के अंदरखाने तक की 'स्कूपें' छापना आज भी अखबारों को कहीं-अधिक मुफीद-कारगर और समाज-सेवा, देश-सेवा व जन-सेवा का सुगम-निरापद राजमार्ग जान पड़ता है।

'बच्चों का कोना' छापने से शुरू होकर यह प्रचलन हालांकि वक्त के साथ अनुक्रमशः कदमताल करने के बसिलसिले बच्चों के 'कॉलमों' से होते हुए बच्चों के 'पेजों' तक जा पहुंचा और इस सफर के विभिन्न पड़ावों पर होम करते हुए बहुतों के हाथ भी जले तथा ऐसे ही कुछ जले-झुलसे हाथों ने बच्चों के लिए पृथक पत्रिका के पन्नों पर भी अपने सपनों के घरौंदे सजाए—लेकिन बाल-साहित्य फिर भी फैशन ही बना रहा। उसका लिखा जाना तब भी होम करते हाथ जलाने जैसा ही रहा और उसका प्रकाशन फिर भी निश्चित नुकसान का सौदा : क्योंकि सरकारी खरीद पर निर्भरता के सिवा ठेठ बाल-साहित्य की पूछ संबद्ध पाठक-समाज में फिर भी फिसड्डी की फिसड्डी ही बनी हुई है।

बच्चे आज क्या पढ़ना चाहते हैं?—अव्वल तो यह कि वे पढ़ना नहीं, देखना चाहते हैं। पढ़ने में भी वे वही पढ़ना चाहते हैं, जिसे देखा जा सके। फलतः कॉमिक्सों का चलन और बाल-मन में उनकी पैठ किसी से छिपी नहीं है। बच्चों की किताबें तस्वीरों के बिना पूरी नहीं होतीं—क्यों नहीं कोई संपादक किसी बाल-पत्रिका को महज अक्षरों से सजा पाता? कई पत्रिकाओं के तो आकर्षण का संजाल ही रंग-ओ-रोगन और तस्वीरों के नतीजतन है—वजह वही, मनोवैज्ञानिक कि हजार शब्दों से कहीं ज्यादा असरमंद है एक अदद चित्र। बच्चों को अगर चित्र बुलाते-से लगते हैं तो इसमें कोई अचरज नहीं होना चाहिए कि बच्चे पढ़ना नहीं, देखना चाहते हैं। यह दीगर बात है कि देखने-दिखाने के साधन-संसाधन-उपादान की सूची अब हमारी सभ्यता की कृपा से इतनी विविध हो गई है कि पढ़ने-लिखने के बजाय कहीं सोनू वीडियो गेम में घोड़े दौड़ाता है, तो कहीं मोनू डब्ल्यू. डब्ल्यू.एफ. की नूरा-कुश्तियों के पहलवानों से दाव-पेंच सीखता है कहीं पिंकी वंडरलैंड में एलिस को जांबाजी करते देखती है, तो कहीं रिंकी चित्रहारों की जूही को मम्मी-जितनी ठसक से ही अपने करीब महसूस करती है।

दूसरे छोर पर ऐसे भी बच्चे हैं जो पढ़ ही नहीं पाते। अपने घर-परिवार की नंगी पीठ ढंकते-ढंकते वे अपनी एड़ियां घिस डालते हैं। अपनी और अपने भाई-बहन-अभिभावकों की भूख मिटाने के लिए उन्हें कूड़े के ढेरों में से दिहाड़ी की रोजी-रोटी खोजनी-बीननी पड़ती है। ऐसे हतभागे बच्चे क्या और कैसे पढ़ें—इस पर गौर फरमाने की फुर्सत आज बाल-साहित्य से जुड़े किसी वर्ग में शायद ही हो और यदि किसी में हो भी तो उसे खुर्दबीन तक से तलाशना कठिन है।

तो, आज का तथाकथित बाल-साहित्य खुद भी बच्चों की दुनिया के किस तबके के लिए है—यह साफ जाहिर है। बच्चों का समूचा मन उसकी तरफ भला खिंच भी कैसे सकता है? क्योंकि उसमें बच्चों का आखिर है भी क्या? अपने गले में खुद ढोल डालकर चंद संख्यात्मक तथ्यों के आधार पर इसकी मुनादी करना दिल-बहलाने का गालिबन अच्छा ख्याल हो सकता है कि हिंदी का बाल-साहित्य स्वर्ण-युग की ओर है—लेकिन आत्यंतिक रूप से वस्तुस्थिति इसके सर्वथा विपरीत है। आज का अमूमन बाल-साहित्य वस्तुतः बच्चों का साहित्य नहीं, बल्कि बच्चों पर थोपा हुआ साहित्य है। बच्चों की किलकारी, बच्चों की चुहल, हंसी-गुदगुदाहट, बच्चों का बचपना उससे नदारद है। बच्चों के लिए उपयोगी बनने के नाम पर ही आज का हिंदी बाल-साहित्य अपने को साहित्य कहलाए जाने की कोटि में रखता है—लेकिन आम तौर पर बच्चों के लिए उपयोगी होने का दावा करने की स्थिति में भी जाहिरन वह नहीं है: क्योंकि यदि ऐसा ही उपयोगी होता हिंदी बाल-साहित्य, तो फिर मौजूदा दौर पर से उनकी पकड़ रुखसत न हो चुकी होती। लाइब्रेरियों तक सिमटा आज का बाल-साहित्य इतिहास के पन्नों का शेर तो हो सकता है, किंतु वक्त की मुख्यधारा उसकी दखल से तकरीबन अप्रभावित ही रह जाती है।

बच्चों का ही ठेठ साहित्य छापने के नाम पर अव्वल तो कुछ-बहुत हो भी नहीं रहा है, दूसरे जो हो भी रहा है वह इतना बेतरतीब-बेअंदाज बेसुरा है कि अपने होने-मात्र से ही वह इस महत्वाकांक्षी दिशा में कुछ गंभीर-सार्थक टिकाऊ हो सकने की कुल संभावनाओं का गला भी घोंट देता है। शिफत यह कि प्रतिद्वंद्विता का वायरस चूंकि इस क्षेत्र में अभी घुस नहीं पाया है, इसलिए आधा-पौना भी खरे-टटके में चल जाता है। 'बच्चों का साहित्य, बच्चों के द्वारा ही'—जैसे नारों का वीभत्स यथार्थ भी जब-तब उघड़ जाता है। नन्हे-मुन्ने किसी बच्चे को संपादक की कुर्सी पर बैठाकर बचकाना कौतुक किए जाने के नमूने भी अक्सर दिख जाते हैं। व्यावसायिकता का सस्ता तकाजा शायद चीज ही ऐसी है जो इस नासमझी तक भी गिरा ले जाती है। तिलक, पराड़कर और चिंतामणि से लेकर गिरिलाल जैन, दिलीप पडगांवकर जैसे धुरंधर भी जिस संपादन-कला की थाह न पा सके हैं, उस अथाह सागर में नौ-दस-बारह साल के किसी दुधमुंहे को उतार देना किस सदाशयता का प्रतीक है?—इस सीधे-सादे सवाल के सटीक ईमानदार जवाब के लिए इबारतों की तलाश अरसा पहले से जारी है किंतु प्राश्निक मुद्रा बरकरार है।

खैर, बच्चों का जो भी मुट्ठी भर वर्ग आज का तथाकथित बाल-साहित्य पढ़ता है, वह भी 'किताबें ज्यादा किंतु जज्बात कम' की हालत-नौबत का शिकार है। होने को तो हिंदी में बाल-साहित्य की किताबें हैं बहुत और कहने को छपती भी बहुत हैं, लेकिन बाल मन को, खुद से नाथे रखने के कौशल में बांग्ला, मराठी, गुजराती, तमिल, तेलुगु, मलयालम जैसी भारतीय भाषाओं से ही अभी भी वे कोसों पीछे हैं। जनवरी, 1993 में 'अनुबंध मीडिया नेटवर्क' द्वारा किए गए एक अनुसंधानात्मक सर्वेक्षण से पता चलता है कि निश्चित ही आज का अभिभावक अपने बच्चों के प्रति जागरूक है और बालक भी मन-माफिक पुस्तकें पढ़ना चाहते हैं—मगर किस पुस्तक में बाल-मन के बोल छुपे हैं, इसकी खोज और तजबीज कर पाना असंभव नहीं तो दुष्कर जरूर है। अंग्रेजी तक में ऐसी पुस्तकों का चयन-प्रणयन एक दुरूह काम है, हिंदी और अन्य भारतीय भाषाओं में तो कहना ही क्या? उनमें मौलिकता-नैसर्गिकता पर 'अंग्रेजी से आयात' की लत अपने विभिन्न तर्ज-तेवर-तौर के तईं निरंतर भारी पड़ती जा रही है।

हिंदी के बाल-साहित्य से जुड़े ऐसे कई सरोकारों की तमाम ऐसी बानगियां हैं, जिनमें बीच की कड़ियां नदारद हैं। लेखक (संपादक), प्रकाशक-पाठक इनके बीच का तादात्म्य लगता तो परस्पर गुंथित है, किंतु वस्तुतः उनके बीच सारत्व छीजा हुआ है : अन्यथा आज जैसी नौबत ही असंभव रहती । पाठक से लेखक (संपादक) और लेखक (संपादक) से प्रकाशक और प्रकाशक से पाठक के बीच सेतु स्थापित करने के मकसद से नई दिल्ली के बालभवन में हुई एक कार्यशाला में पढ़े गए परचों और दिए गए व्याख्यानों को संकलित करके प्रकाशित समीक्ष्य प्रस्तुति भी हालांकि उसी फैशन की गर्म हवा के झोंकों पर सवार है, जिस फैशन की जद में हिंदी का बाल-साहित्य आज बंद है। हालांकि इस अंतर्संबंध का हवाला घोषणा-मात्र के लिए भी निदेशक के हस्ताक्षर से प्रकाशित 'आमुख' में करने की जरूरत नहीं महसूस की गई। किंतु चूंकि कथ्य-स्वर से उसकी भी धमक परोक्षतः मिलती लगती है इसलिए प्रस्तुत समीक्षा में इसे भी शुमार करके प्रस्तुति के वार्तुल्य को पूर्णाकृति देने की ईमानदार कोशिश स-क्षमा, स-खेद की गई है। इतना जरूर है कि इस और इस-जैसी अन्य चूकों के नतीजतन संपादन-दायित्व के प्रति अक्षमता व लापरवाही ही द्योतित होती है-- वैसे एक अचरज यह भी है कि *त्रिविधा* शीर्षक इस प्रस्तुति में संपादक ही नदारद है। संपादक के बिना ही ऐसी प्रस्तुति को प्रकाशित कर पाने भर के लिए भी प्रकाशक की 'तारीफ' की जानी चाहिए। *त्रिविधा* के रूप में प्रस्तुत ये बिच-कड़ियां लेखक(संपादक)- प्रकाशक-पाठक के मध्य, हालांकि स्वयं भी जंगजदा हैं, किंतु इनमें सेतुत्व का चूंकि स्वप्न भी समन्वित है, इसलिए इतने-सारे लोगों को एक जिल्द में शामिल किए जाने की विहंगम प्रस्तुति की ओर यह सहज ही ध्यान आकृष्ट करती है।

वस्तुतः यह आयोजन कोई ग्रंथीय या पुस्तकीय आयोजन नहीं, बल्कि कार्यशाला की रिपोर्ट जैसा है। तो भी इस प्रस्तुति में विभिन्न व्याख्याताओं के अभिव्यक्त व्याख्यानों के प्रकाशित स्वरूपों में ऐसा भी बहुत-कुछ है, जो सार्थक-विधायक रूप से ध्यान खींचता है।

चित्रकथाओं(कामिक्सों) में नैतिक-मूल्यों के औचित्य पर अनंत पै का यह कथन द्रष्टव्य है: 'चित्रकथाओं में जिन पात्रों का हम वर्णन करते हैं, उनमें कुछ अच्छे और कुछ बुरे, कुछ साहसी और कुछ डरपोक होते हैं। राम के समय भी रावण था और महाभारत के समय भी दुर्योधन और दुःशासन थे। चित्रकथाओं में, बाल-साहित्य में, हमें इस ढंग से पात्रों का चित्रण करना चाहिए कि पढ़ने के बाद बच्चों की सहानुभूति ऐसे पात्रों के साथ हो जो न्याय के लिए, दूसरों की भलाई के लिए लड़ते हों, फिर भले ही वह ऐसा करते मर भी जाएं। घटनाएं क्या चित्रित की गई हैं, इससे ज्यादा महत्व इस बात का है कि उन्हें कैसे चित्रित किया गया है। कहानी पढ़कर बच्चे अंधविश्वास करना न सीखें, प्रारब्धवादी न बनें।'

उषा महाजन का यह ख्याल भी गौरतलब है कि बच्चे को लेकर आज हमारी सोच और चिंता जिस परिमाण में बढ़ी है, पत्रकारिता में इसे उसी परिमाण में परिलक्षित होना चाहिए। बच्चों के लिए दिए जाने वाले पृष्ठों पर केवल कहानियां और कविताएं ही नहीं, कंप्यूटर से लेकर खेलकूद अथवा सेक्स की सामान्य जानकारी तक की बातें दी जा सकती हैं। पत्र-पत्रिकाओं के राजनीति अथवा फिल्मों को समर्पित पृष्ठों पर बालक को लेकर होने वाले तमाम शोध-कार्यों, योजनाओं एवं परिचर्चाओं को स्थान दिया जा सकता है। राष्ट्रीय अथवा अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर होने वाले इस विषय की संगोष्ठियों को विस्तृत विवरणों के साथ देकर समाज में बालक के कल्याण के लिए जागरूकता पैदा की जा सकती है।

बाल-साहित्य और परी-कथाओं के परिप्रेक्ष्य में जयप्रकाश भारती के इन शब्दों में भी सत्य की सार्थक अनुगूंज है कि परी-कथाओं के बारे में यह मिथ्या धारणा प्रचलित है कि वे पश्चिमी देशों की देन हैं। वास्तव में इनका उद्गम स्थल भारत है। ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस द्वारा प्रकाशित *चिल्ड्रंस लिटरेचर* ग्रंथ में स्पष्ट रूप से माना गया है कि आज अंग्रेजी भाषा में जो परी-कथाएं बहुत लोकप्रिय हैं उनमें से कुछ मूल रूप से *पंचतंत्र* अथवा *कथा सरित्सागर* से ली गई हैं।

बाल-नाटक और रंगमंच के संदर्भ में स्थितियों और संभावनाओं का खुलासा करते हुए रेखा जैन का यह कथन भी द्रष्टव्य है कि 'बाल-नाटकों को बच्चों की रुचि के अनुकूल और अधिक प्रभावशाली बनाने के लिए हमें अपनी पारंपरिक, शास्त्रीय और लोक—सभी कलाओं का सहारा लेना चाहिए। हमारे यहां प्राचीन काल से ही नाटक में संगीत,नृत्य, अभिनय, साहित्य, चित्रकला आदि का संगम रहा है। भरतमुनि का नाट्यशास्त्र इसका सबसे अच्छा प्रमाण है। पर मैं अपने अनुभव से भी जानती हूं कि दिन भर की शुष्क पढ़ाई की ऊब के बाद बच्चों को संगीत, नृत्य, कविता, अभिनय प्रधान नाटकों में भाग लेने में बहुत आनंद मिलता है। उनकी नीरसता और झिझक टूटती है, उनमें आत्मविश्वास जागता है। स्मरण-शक्ति तेज होने के साथ उनमें स्फूर्ति भी आती है। वे अधिक संवेदनशील बनते हैं। उनमें एक ऐसा सौंदर्यबोध जागृत होता है जो उन्हें बुराइयों से दूर रहने के लिए प्रेरित करता है। मैं सौंदर्यबोध को बहुत महत्व देती हूं।' विख्यात नाटककार-निर्देशक शांता गांधी ने कहा है: 'जो बच्चा सुंदरता से प्यार करना सीख चुका है वह कुरूपता से हर जगह घृणा करेगा। जीवन भर वह अपने सामाजिक और सांस्कृतिक परिवेश के कुरूप पक्षों के विरुद्ध विद्रोह करेगा। बाल रंगमंच के संदर्भ में यह बात बहुत सार्थक है।'

शिक्षण, साहित्य और बाल-मनोविज्ञान पर प्रकाश डालते हुए शमशेर अ.खान के विचारों में सार्थकता साफ झलकती है कि बाल-साहित्य के संबंध में यह विवाद का विषय बना दिया गया है कि परी-कथाएं, लोक-कथाएं, राजा-रानी, भूत-प्रेत की कथाएं बच्चों के मानसिक विकास में बाधक हैं। उन्हें यथार्थपरक या विज्ञान संबंधी कहानियां ही दी जाएं। कहानियों का उद्देश्य मनोरंजन के साथ-साथ कथा में छिपा सहज रूप में दिया गया उपदेश होता है। सभी प्रकार की कहानियां बच्चों को दी जाएं। सभी कहानियां गुलदस्ते का रूप होती हैं। हां, इतना जरूर ध्यान दिया जाए कि उसमें सतहीपन न हो। आज बाल-साहित्य प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है ! अभिभावकों और माता-पिता को अपनी अभिरुचियों पर कठोर नियंत्रण लाना होगा ।

कठोर नियंत्रण लाने का अभिप्राय बच्चे को अनाप-शनाप कीमती वस्तुएं दिलाकर उसकी इच्छाओं को उच्छृंखल करने के बजाय, पुस्तक के प्रति अभिरुचि पैदा करने से है। ये अभिरुचियां बच्चे के जन्मदिन, विभिन्न उत्सव, पर्वों पर पुस्तकें भेंट करके पैदा की जा सकती हैं।

बाल-यायावर साहित्य के संदर्भ में संभावनाओं और चुनौतियों पर श्याम सिंह शशि ने भी विधायक दृष्टि अपनाई है। उनके अनुसार, 'मैं यह तो नहीं कहता कि सभी बाल-साहित्यकार यायावरी के लिए खतरे उठाकर पहाड़ और जंगलों की खाक छानें अथवा देश-विदेश की निजी लेखकीय यात्राएं करें किंतु वे कम से कम अपने देश के उपेक्षित वर्गों की ओर तो निहार ही सकते हैं और यदा-कदा किसी आदिवासी या पहाड़ी गांव के बीच पहुंचकर अपनी लेखनी से उनका दुख-दर्द भी बांट सकते हैं और कुछ संभव न हो तो देवेंद्र सत्यार्थी की तरह वहां का लोक-साहित्य ही एकत्र कर सकते हैं। आज भी इन क्षेत्रों में अछूते विषयों का कोष बिखरा पड़ा है। आवश्यकता है उसे यायावरी अनुभवों में बटोरने की, बाल यायावरी-साहित्य-सृजन की।'

शिशु-गीतों के संदर्भ में परंपरा और प्रयोग की चर्चा करते हुए श्रीप्रसाद भी ठीक ही कहते हैं कि अंग्रेजी ने प्रायः मनोरंजन के स्तर पर शिशु-गीतों को छोड़ा था, हिंदी ने और आगे बढ़ाया और इसे एक पूर्ण विधा बना दिया। यही कारण है कि हिंदी में आज इतनी अधिक मात्रा में शिशु-गीत हैं।

हिंदी बाल-साहित्य का एक विहंगम खाका खींचते समय हरिकृष्ण देवसरे की दृष्टि भी वैज्ञानिक नजर आती है। वह कहते हैं कि बाल-साहित्य का प्रकाशन पिछले चार दशकों में प्रचुर मात्रा में हुआ है। सरकारी प्रतिष्ठानों के साथ-साथ निजी प्रकाशकों ने भी बाल-साहित्य की विविध विधाओं में अनेक पुस्तकें प्रकाशित की हैं। किंतु इस सबके बावजूद बाल-साहित्य का समग्र रूप में जो चित्र उभरना चाहिए वह अभी तक नहीं उभरा है। बाल-साहित्य की समस्याओं और विकास के उपायों पर पिछले वर्षों में अनेक गोष्ठियां हुई हैं। बाल-साहित्य की विविध विधाओं पर कई शोध ग्रंथ लिखे जा चुके हैं। बाल-साहित्य के वरिष्ठ लेखकों की रचना-प्रक्रिया पर भी शोध-छात्रों ने काम किया है। फिर भी कहीं कोई कमी बराबर महसूस होती रहती है—जो बाल-साहित्य के विकास में बाधक बनी हुई है। यदि इस बात पर गंभीरता से विचार करें तो यह स्पष्ट लगता है कि अच्छे बाल-साहित्य के लेखन और प्रकाशन के बावजूद वह बच्चों तक नहीं पहुंच पाता। बाल-साहित्य की सार्थकता तो इसी में है कि वह अधिकाधिक बच्चों तक पहुंचे। बाल-साहित्य और पाठक के बीच की इस कड़ी का ठीक से न जुड़ पाना ही बाल-साहित्य के विकास की मुख्य बाधा है। इसलिए जहां हमें प्रसन्नता होती है कि श्रेष्ठ बाल-साहित्य का लेखन-प्रकाशन हो रहा है, वहीं उसकी प्रगति में जब बच्चों तक न पहुंच पाने की बाधा नजर आती है तो चिंता होती है।

इनके अलावा *त्रिविधा* में अनंत कुशवाहा (बाल-साहित्य में चित्रों का महत्व), दिविक रमेश(कामिक्स बनाम चित्रकथाएं), निरंकारदेव सेवक, (अलिखित बाल-गीत), योगेंद्र कुमार लल्ला (दर्पण में अपना चेहरा), राष्ट्रबंधु (बाल-साहित्य और मनोविज्ञान), शेरजंग गर्ग (बच्चों के लिए हास्य-व्यंग्य), सुरेखा पाणंदीकर (रहस्य-साहस-कथाएं और बाल-साहित्य) आदि के विचार भी सारगर्भित व सार्थक रहे हैं। ❑

---

* **त्रिविधा (निबंध संग्रह)**: बाल भवन सोसायटी इंडिया, कोटला रोड, नई दिल्ली-2; पृ. 161; मूल्यः दिया नहीं गया है।

फोटोग्राफी जीवन के क्षण-विशेष का दर्शन है

पृष्ठ 10 से आगे

दुनिया में योगी भी बनते रहे हैं। हम योगी-योगी कहते रहे, आध्यात्मिक लोगों का हल्ला मचाते रहे, लेकिन हम पर भौतिकवाद का इतना गहरा असर हुआ है कि आज हिंदुस्तानी भी अध्यात्म, योग, व्यायाम और क्रिया को पाश्चात्य देशों में जाकर सीखते हैं। हिंदुस्तान में अब कुछ करने वाले लोग ही नहीं बचे हैं, क्योंकि हमने सब बेच डाला है। खा डाला है। सबसे बुरी बात यह है कि आज हम हिंदुस्तानी होने की शान, हिंदुस्तानी होने का नारा ही नहीं जानते। यही एक ऐसा राष्ट्र है जहां मुद्दा विभाजित है, हर व्यक्ति अपनी अलग पूंजी और अलग साम्राज्य बनाना चाहता है। हम आज कहीं भी लुढ़कने को तैयार हैं। इस स्थिति में गंभीर कार्य की अपेक्षा कैसे की जा सकती है?

आपने किसे अपना आदर्श मानकर फोटोग्राफी शुरू की थी?

मेरा आदर्श कभी कोई एक व्यक्ति नहीं रहा । कई लोगों के काम अच्छे लगते थे। अभी भी बहुत सारे लोगों के कार्य अच्छे लगते हैं। लेकिन किसी एक के स्टाइल एवं एप्रोच से प्रभावित होकर उसमें अपने आप को लाने की कोशिश मैंने कभी नहीं की। कभी गलती से ऐसा लगा भी तो वहां से अपने आप को हटा लिया।

कभी आपको लगता है कि आप किसी फोटोग्राफर विशेष की ओर अधिक झुक रहे हैं?

कई दृश्य (सिचुवेशन) एवं विषय ऐसे दिखाई देते हैं जिन्हें शूट करते वक्त लगता है कि अरे यह तो कार्शियर ब्रेशो जैसी तस्वीर है। पहले तो मैं इन्हें खींचने से ही बचता हूं और अगर खींच भी लिया तो अपनी फोटो-पुस्तक में नहीं रखता। क्योंकि इसे 'सिस्टम' (मानस) से निकालना बहुत जरूरी है।

फिर भी सर्वाधिक अच्छा काम आपको किस फोटोग्राफर का लगता है?

ऐसा कोई एक नहीं है। जिनके कार्य मुझे आकर्षित करते रहे हैं उनमें हेनरी कार्शियर ब्रेशो, ली, फ्रॉयड लेंडर, राबर्ट फ्रैंक, यू जीन् स्मिथ आदि शामिल हैं।

अपने देश के फोटोग्राफरों में कौन-कौन से ऐसे हैं जिनके कार्यों में गंभीरता है?

दो तीन फोटोग्राफर्स ही ऐसे हैं—जैसे दयानीता सिंह, स्वप्न पारेख, नितिन राय आदि। वरिष्ठ लोगों में से जिनका काम मुझे पंसद है उनमें रघुवीर सिंह हैं। बाकी ठीक हैं, पर कोई खास पकड़ नहीं दिखाई देती। सुंदर, मीठी वाली बात है। वास्तव में हमारे देश में फोटोग्राफी अभी बहुत पिछड़ी हुई है।

फोटोग्राफी का भविष्य कैसा है?

इसकी स्थिति बेहतर होने के बावजूद दृष्टि के स्तर की बातें बहुत कम हैं। पैसे अधिक मिलने लगे हैं, संभावनाएं भी बढ़ी हैं लेकिन सब संक्रमण काल से गुजर रहा है। लगता है, अभी कुछ दिन ऐसे ही चलेगा। कुछ दिनों बाद जब लोग बदलेंगे, उनकी मानसिकता एवं प्रवृत्ति बदलेगी तब शायद कुछ और चीजें सामने आएं। ❑

पुस्तक चर्चा

गांधीजी और गांधीवाद

राजेंद्र धस्माना

व्यक्ति की गरिमा में गांधी का अटूट विश्वास रहा है। उनका विश्वास था कि व्यक्ति के आत्मनिर्भर, निर्भीक और सामाजिक होने से ही एक संपन्न, तनावमुक्त और सोद्देश्य समाज की स्थापना हो सकती है। व्यक्ति को कमजोर करने वाली ताकतों का गांधी ने डटकर विरोध किया। मशीनें उसे 'डिह्यूमैनाइज' करने लगें तो मशीनों का, ज्यादा से ज्यादा बटोरने के लिए अंधी दौड़ लगने लगे तो 'मास प्रोडक्शन' का और किसी साजिश, झूठ और निहित स्वार्थ पर उतारू होने वाले हर संगठन का गांधी विरोध करते रहे। यहां तक कि कल्याणकारी समाज के सामने वह सरकार की आवश्यकता को भी कम ही कम मानते हैं। उनका कल्याणकारी समाज किस हद तक स्थापित को सकेगा या किस हद तक सरकार की जरूरत कम हो पाएगी, इस बारे में यूक्लिड की सरल रेखा की परिभाषा को सामने रखते हुए उन्होंने कहा कि उनके अनुसार सरल रेखा की केवल लंबाई होनी चाहिए, चौड़ाई नहीं। लेकिन अभी एक ऐसी सरल रेखा खींची नहीं जा सकी। मतलब यह कि जरूरत जितनी कम हो सके उतनी ही ठीक। उनका कहना था कि राज्य एक आत्माहीन तंत्र है, वह जितना मजबूत होता है, उतना ही हिंसक भी होता जाता है। उनके लिए राज्य संगठित हिंसा का स्वरूप था। कदाचित इसीलिए वह शासन में शामिल होने के बजाय जनता के बीच रहना ज्यादा पसंद करते थे। यह सच भी है कि आजादी के बाद ज्यादातर काम सरकार ने अपने हाथों में ले लिए जिसका फल यह हुआ कि हर आदमी हर काम के लिए सरकार का मुंह ताकने लगा। गांधी चाहते थे कि कांग्रेस एक स्वैच्छिक संगठन में तब्दील हो जाए और अनुभवी, योग्य नेता जनता को रास्ता दिखाने के काम में जुट जाएं। लेकिन ऐसा हुआ नहीं। विनोबा, जयप्रकाश नारायण जैसे इने-गिने लोगों ने ही सत्ता से बाहर रहने का रास्ता चुना। इनके बाद और लोगों ने भी जन-सेवा का मार्ग चुना और अपना संपूर्ण जीवन जनता की सेवा में समर्पित कर दिया।

डी.के. ओझा ने अपनी पुस्तक *स्वैच्छिक कार्य और गांधीवादी दृष्टि*[1] में ऐसे ही कुछ लोगों और स्वैच्छिक संगठनों का जिक्र किया है। इनमें से एक हैं इलाबेन भट्ट का स्वाश्रयी महिला सेवा संघ 'सेवा'। इला भट्ट अहमदाबाद में गांधी द्वारा स्थापित 'मजूर महाजन' (टैक्सटाइल लेबर एसोसिएशन) की सक्रिय कार्यकर्ता भी रही हैं लेकिन बाद में वह असंगठित स्व उद्यमी महिलाओं को संगठित करने में जुट गईं। उन्होंने इन महिलाओं से मिलना-जुलना शुरू किया, अकेले-अकेले भी और समूहों में भी। उनकी समस्याओं, दुख-दर्द को समझकर सामूहिक रूप में समाधान खोजने का प्रयास किया। 'सेवा' ने गुजरात के शहरी क्षेत्रों में निहित स्वार्थों से टक्कर लेने के बाद ग्रामीण क्षेत्रों में भी काम करना शुरू किया। पिछले कुछ वर्षों से हरियाणा, बिहार, मध्यप्रदेश और दिल्ली में भी 'सेवा' की शाखाएं काम कर रही हैं। इला भट्ट ने अंतर्राष्ट्रीय श्रम संगठन में भी स्वाश्रयी महिलाओं की आवाज को बुलंद किया है। पिछले पच्चीस वर्षों से इला बेन का जीवन स्वाश्रयी महिलाओं के उत्थान के लिए समर्पित है।

दूसरे व्यक्ति हैं मुरलीधर देवीदास आमटे जिन्हें लोग बाबा आमटे के नाम से जानते हैं। मुरलीधर अच्छे-खासे खाते-पीते घर के थे और चाहते तो वकालत के जरिए अपने घर को और भी संपन्न कर लेते। वकालत शुरू करने से बहुत पहले 1935 में क्वेटा भूकंप में उन्होंने राहत कार्य में हिस्सा लिया था। 1942 में जब गांधी ने भारत छोड़ो आंदोलन छेड़ा तब मुरलीधर को भी इस आंदोलन में भाग लेने पर जेल हुई थी। बाद में वह वकालत करने लगे। एक दिन उन्होंने अपनी पत्नी साधना को बताया कि वह अपने मुवक्किलों से पैसा ऐंठने के बजाय दीन-दुखियों की सेवा करना चाहते हैं। पत्नी की सहमति पर उन्होंने वकालत छोड़ दी और पिता की संपत्ति पर भी अधिकार छोड़ दिया। 1948 में वह बरोरा नगर परिषद के उप-सभापति चुने गए। बाद में वह सफाई कर्मचारियों के नेता बन गए। गांधी के भंगी मुक्ति आंदोलन से वह प्रभावित थे ही, उन्होंने खुद शौचालय साफ करने शुरू कर दिए। एक दिन भारी वर्षा के दौरान वह मल की बाल्टी सिर पर रखकर चल रहे थे कि उनकी नजर पास में खाई में कराह रहे एक ऐसे व्यक्ति पर पड़ी जिसका चेहरा विकृत हो गया था और शरीर के घावों में कीड़े पड़ गए थे। वह कुष्ठ रोगी था। इस दृश्य ने मुरलीधर के जीवन को बदल डाला और तब से वह कुष्ठ रोगियों की सेवा में जुट गए। जेब में केवल 14 रुपये लेकर पत्नी साधना, पुत्र विकास और प्रकाश तथा छह कुष्ठ रोगियों के साथ बरोरा के पास चंद्रपुर के जंगल में जाकर उन्होंने बांस की झोपड़ियां खड़ी कीं, एक कुआं खोदा और धीरे-धीरे बीहड़ जंगल को 'आनंदवन' में बदल दिया। बाद में एक दवाखाना खोला जो कालांतर में एक बड़े अस्पताल में बदल गया। आज इस अस्पताल में 1,500 अंतरंग रोगियों को भर्ती करने और 500 बहिरंग रोगियों के इलाज की व्यवस्था है। इस प्रकार बाबा आमटे ने गांधी के रचनात्मक कार्यक्रम के एक अंग को विस्तार देने में महान योगदान दिया है, इसमें कोई संदेह नहीं।

लेखक ने एक तीसरे व्यक्ति चंडी प्रसाद भट्ट और उनके संगठन दशौली ग्राम स्वराज संघ का जिक्र किया है। भट्ट ने स्थानीय श्रमिकों को संगठित करके उनकी आय में वृद्धि की। खादी ग्रामोद्योग आयोग की मदद से कुछ को मिस्त्री और लोहार के काम में प्रशिक्षण के लिए मैदान में भेजा। लकड़ी और लोहे के उपकरण बनाने के लिए कार्यशाला खोली। जब संघ को छोटे-मोटे ठेके मिलने लगे और उसके सदस्यों की आय में वृद्धि होने लगी तो अन्य ठेकेदारों ने संघ के खिलाफ चालें चलनी शुरू कर दीं। संघ की कार्यशाला में स्थानीय लोगों के लिए हल और जुआ आदि बनाए जाते थे लेकिन सरकार ने संघ को 'अंगू' के पेड़ देने से इंकार कर दिया। इस पेड़ की मैदानों में बहुत ज्यादा मांग थी। इससे क्रिकेट के बल्ले तथा अन्य खेल उपकरण बनाए जाते थे। ठेकेदारों की तिकड़मों और सरकार द्वारा अंगू के पेड़ न मिलने पर संघ के श्रमिक सदस्यों की आय पर असर पड़ने लगा। 1973 में 'अंगू' के पेड़ काटने का ठेका इलाहाबाद की साइमन कंपनी को मिल गया। संघ के सदस्यों ने संकल्प किया कि वे साइमन के ठेकेदारों और

मजदूरों को लकड़ी नहीं काटने देंगे। यहीं से चिपको आंदोलन की शुरूआत हुई।

इससे पहले भी ठेकेदारों के खिलाफ आंदोलन हुए थे। लेखक ने 1903 और 1930 के आंदोलनों का जिक्र भी किया है लेकिन चिपको के सभी प्रचारक एक बड़े संघर्ष का जान-बूझकर जिक्र नहीं करते। यह संघर्ष था उत्तरकाशी में भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी का। कमलाराम नौटियाल, लक्ष्मीप्रसाद नौटियाल आदि के नेतृत्व में पार्टी कार्यकर्ता महीनों तक जंगलों में ठेकेदारों से जूझते रहे। जिला चमोली में इस आंदोलन का नेतृत्व जोशीमठ के गोविंद सिंह रावत ने किया और गौरा देवी ने इस आंदोलन में महिलाओं को संगठित करने में महती भूमिका निभाई। इस आंदोलन को लेकर दिल्ली से गढ़वाल के सर्वोदयी नेताओं को वृक्षों की इतनी चिंता नहीं हुई जितनी यह कि देवभूमि में अगर यह आंदोलन सफल हो गया तो सारी भूमि 'लाल' हो जाएगी। पहाड़ में पद-यात्राएं हुईं, जगह-जगह जाकर यह बताने की कोशिश की गई कि दशौली ग्राम स्वराज्य संघ की साइमन कंपनी के ठेकेदारों पर विजय एक अभूतपूर्व घटना है और पहले से चले आ रहे संघर्ष को ताक पर रखकर कुछ और ही लोगों के माथे यह श्रेय मढ़ दिया गया। यहां तक कि बहुत दिनों तक गौरा देवी को भी पीछे धकेल दिया गया। जहां तक वृक्ष काटने का सवाल है दशौली ग्राम स्वराज्य संघ और साइमन कंपनी की मांग लगभग एक जैसी ही थी। दोनों को ही अंगू के पेड़ चाहिए थे। फिर पेड़ काटने के छोटे-बड़े स्वार्थ को पर्यावरण का नाम कैसे दे दिया गया, यह विचारणीय है।

गांधी और अहिंसक आंदोलन[2] में सांसद शंकर दयाल सिंह ने चंपारन सत्याग्रह को केंद्रबिंदु बनाकर यह बताने की पुरजोर कोशिश की है कि गांधीजी ने सत्याग्रह के जरिए जिस अहिंसक आंदोलन को जन्म दिया वह नितांत मौलिक है, अभूतपूर्व है और खूनी क्रांति से कहीं ज्यादा प्रभावशाली भी। उनके सामने विश्व की दो महान क्रांतियों—फ्रांस की राज्य क्रांति और बाल्शेविक क्रांति—के उदाहरण मौजूद थे जिनमें लाखों लोगों की जानें गईं। इन क्रांतियों का उद्देश्य राजतंत्र में परिवर्तन लाना था जबकि गांधीजी का मुख्य उद्देश्य समाज को सम्मुन्नत बनाने का था। इसके लिए उन्होंने अहिंसा का ब्रह्मास्त्र उठाया, जो उनके लिए कायरों का नहीं, बहादुरों का अस्त्र था।

यह सच है कि भारत में गांधी का पहला सत्याग्रह चंपारन सत्याग्रह ही था। 22 वर्ष तक इस अमोघ अस्त्र का वह दक्षिण अफ्रीका में सफलतापूर्वक प्रयोग कर चुके थे। वह 1915 में भारत आए और दो वर्ष बाद 1917 में चंपारन जाकर उन्होंने इस अस्त्र का फिर से प्रयोग किया। वर्षों से चंपारन निलहों के अत्याचार से पीड़ित था। एक बार जब गांधी कांग्रेस अधिवेशन के सिलसिले में लखनऊ आए, तो ब्रजकिशोर बाबू और राजकुमार शुक्ल ने उनका ध्यान चंपारन की ओर आकृष्ट किया। राजकुमार शुक्ल का आग्रह था कि कांग्रेस चंपारन में निलहों के अत्याचार के खिलाफ प्रस्ताव पारित करे। लेकिन गांधीजी पहले यह सब कुछ खुद देखना चाहते थे। इसलिए उन्होंने कुछ दिन के लिए चंपारन आने का वचन दिया। अपने वचन के अनुसार गांधीजी मुजफ्फरपुर पहुंचे। वहां से वह मोतिहारी आए। वहां के कलेक्टर का हुक्म था कि वह 24 घंटे के भीतर चंपारन से बाहर चले जाएं। गांधीजी ने इस हुक्म को मानने से इंकार कर दिया। उन पर मुकदमा चला। गांधीजी ने अपने बयान में कहा, "मैं यहां दुखी और पीड़ित भाइयों की तकलीफों का पता लगाने आया हूं। इसमें मेरा मतलब उनकी शिकायतों की जांच करके उनकी सेवा करना और दुख दूर करना ही है। सरकार अपने हुक्म से मुझे यहां से निकालकर यह काम करने से रोकना चाहती है, किंतु मैं उनकी तकलीफ दूर करना चाहता हूं। इसलिए सरकारी हुक्म तोड़ने का दोष मैं अपने माथे न लेकर सरकार ही के माथे देता हूं क्योंकि मैं ऐसा करने के लिए लाचार किया जाता हूं।" मजिस्ट्रेट के पूछने पर उन्होंने जवाब दिया कि "अगर तुम इसे कसूर कहते हो तो मैं अपना कसूर मान लेता हूं।" इसके बाद जिरह-बहस की गुंजाइश नहीं रहती। मजिस्ट्रेट का फैसला भर रह जाता है जिसे उन्होंने कुछ दिनों के लिए मुल्तवी रख दिया। इससे पहले कि कोई फैसला सुनाया जाता, यह मुकदमा ही रद्द कर दिया गया और उल्टे चंपारन में निलहों के उत्पीड़न को लेकर एक जांच समिति का गठन किया गया, जिसके एक सदस्य गांधीजी भी नियुक्त हुए। जांच समिति की रिपोर्ट मिलने पर सरकार ने कानून बनाया जिसके कारण निलहे ज्यादा दिन तक चंपारन में टिक नहीं पाए।

गांधी चंपारन कुछ ही दिन के लिए गए थे लेकिन पूरे 154 दिन वहीं रहे और अपना काम पूरा करके ही लौटे। जांच के दौरान लगभग तेरह हजार रैयतों ने अपने बयान दर्ज कराए। अधिकतर बयान राजेंद्र बाबू ने दर्ज किए।

लेखक ने कबूल किया है कि उन्होंने आलोच्य पुस्तक लिखते हुए राजेंद्र प्रसाद की पुस्तक *चंपारन में महात्मा गांधी* का विशेष सहारा लिया है। उसका एक परिशिष्ट भी लेखक ने ज्यों का त्यों लिया है। लेखक का दावा है कि उन्होंने यह पुस्तक तैयार करने में सौ से अधिक पुस्तकें पढ़ी हैं। *गांधी की आत्मकथा या सत्य के प्रयोग, संपूर्ण गांधी वाङ्मय* (खंड 13) विंसेंट शीन की *ए ग्रेट लाइफ इन ब्रीफ*, डी.जी. तेंदुलकर की *गांधी इन चंपारन*, डा. रजी अहमद की *इंडियन पीजेंट मूवमेंट एंड महात्मा गांधी*, जैनेंद्र कुमार की *अकाल पुरुष गांधी* और आचार्य रजनीश की *देख कबीरा रोया* से जगह-जगह उद्धरण भी दिए गए हैं। *कलैक्टिड वर्क्स आफ महात्मा गांधी* के दो और खंड आलोच्य पुस्तक से पहले प्रकाशित हो चुके थे। उन्हें देख पाने का लेखक को समय नहीं मिल पाया।

पुस्तक में चंपारन के अहिंसक आंदोलन की तो विस्तार से चर्चा है ही, साथ ही साथ गांधी के व्यक्तित्व के आकलन की कोशिश भी है। इस आकलन में कुछ ही पक्षों (सत्य, अहिंसा, निर्भीकता, अपरिग्रह) पर रोशनी डाली गई है। यह सच है कि दक्षिण अफ्रीका से लौटने के लगभग दो साल बाद गांधीजी ने पहला अहिंसक आंदोलन बिहार में शुरू किया, लेकिन यह भी सच है कि आजादी से कुछ समय पहले और कुछ महीने बाद वे अधिकतर नोआखली और बिहार में ही रहे जहां हिंदू-मुस्लिम एकता के अहम सवाल से उन्हें रात-दिन जूझना पड़ा। कुछ प्रार्थना सभाओं में बार-बार यह सवाल उठा कि वह पंजाब क्यों नहीं जा रहे हैं जबकि वहां भी वही समस्या मुंह बाए खड़ी है जो बिहार में है। बिहार का होने पर भी लेखक ने इस अध्याय को नजरअंदाज कर दिया है। अस्पृश्यता निवारण और हिंदू-मुस्लिम एकता गांधी के अहिंसक आंदोलन की एक मजबूत कड़ी थीं जिन्हें वह अपने रचनात्मक कार्यक्रम का बड़ा स्तंभ मानते थे। दूसरी बात यह कि लेखक की गांधी और गांधीवाद में अटूट आस्था झलकती है जो ऐतिहासिक संदर्भों में गांधीजी के वस्तुपरक अध्ययन में आड़े आ सकती है। जरूरी है कि गांधीजी का आकलन बेलाग भाव से किया जाए। लेखक ऐसा कर सकते थे क्योंकि राजेंद्र बाबू की तरह वे गांधी के साथ नहीं रहे और गांधी भी आज शरीर रूप में उनके सामने उपस्थित नहीं हैं। ❑

1. **स्वैच्छिक कार्य और गांधीवादी दृष्टि** : डी.के. ओझा; नेशनल बुक ट्रस्ट; पृष्ठ : 69, मूल्य : 21 रुपये।
2. **गांधी और अहिंसक आंदोलन**, : शंकर दयाल सिंह; किताबघर, 24, अंसारी रोड, नई दिल्ली; मूल्य : तीन सौ रुपये।

विकास की त्रासदी का दर्द

क्षितिज शर्मा

परिवेश और मूल संरचना मे जहां *पार* * *डूब* का पूरक है—उसके बाद का हिस्सा, पर क्या संरचना में स्वतंत्र उपन्यास भी ठहरता है? *डूब* जहां खत्म हुआ है *पार* वहीं से शुरू नहीं होता। कथा का मूल स्रोत सोच और केंद्रीय समस्या *डूब* से उठाते हुए भी समस्या के भिन्न मुद्दों को लेकर चलता है। मुख्यतः यह बुंदेलखंड के आदिवासी जीवन के उस पर लादी गई समस्या के कारण छिन्न-भिन्न हो जाने की व्यथा है। इसके समानांतर यह *डूब* के चरित्रों की शेष कथा भी कहता रहता है।

डूब की तीसरी डुबकी में राजघाट बांध परियोजना का परिचय मिल गया था। परियोजना के लिए पर्याप्त भूमि उपलब्ध कराने के लिए एक बड़े क्षेत्र को जिसमें कई गांव शामिल हैं, डूब क्षेत्र घोषित कर दिया गया है। अब उन गांवों को वहां से उठाना है। पर उन्हें कब और कहां बसाया जाना है, यह तय नहीं है। यह अनिश्चितता ही उपन्यास की केंद्रीय विषयवस्तु है। क्योंकि गांवों को उठाना है इसलिए उनके विकास और मूलभूत सुविधाएं देने का काम ठप्प हो गया है। इस तरह दो राज्यों को खुशहाली देने की परिकल्पना डूब क्षेत्र से जीवन का रस-रंग ही छीन ले गई। मुआवजा मिलने और नई जगह पर बसाए जाने के इंतजार में वर्षों से बैठे लोग डूब की तलवार को न स्वीकार कर पा रहे हैं न उसे नकार पा रहे हैं। धरती के जिस टुकड़े को वे अपना माने बैठे थे, जो उनके जीविकोपार्जन का एकमात्र साधन नहीं था, उनकी निजता और पहचान का पर्याय भी था उसी में उनको अपनी जड़ें गहरी दबी होने का अहसास भी था। उसी में बेदखल हो जाने और खुद के खो जाने का भय भी शामिल हो गया है।

स्थिति की भयावहता को सभी भांप रहे हैं। संपन्न और व्यापारी वर्ग, शिक्षित और दस्तकारी जानने वाले नए ठिकानों को तलाश कर स्थापित होते जा रहे हैं। जिन्होंने उस मिट्टी के रंग और उपज के सिवाय कुछ देखा ही नहीं, वे अभिशप्त जीवन के लिए विवश हैं। गांव छोड़ने वाले उनके अभिशाप और भय को बढ़ा रहे हैं।

पार दो गांवों—जीरोन और लोई के माध्यम से खंडित हो रही जीवन पद्धति और अस्मिता को बचाए रखने की लड़ाई में बंग के लोगों की भागीदारी की कहानी है। नियम-कानूनों, ज्ञान-विज्ञान की अनभिज्ञता के कारण शासन-प्रशासन और बिचौलियों की ठगी तथा धार्मिक अंधविश्वास उनकी तकलीफों को बढ़ा रहे हैं। संघर्ष की सामर्थ्य को कुंठित भी कर रहे हैं।

पार की कथा आदिवासी खेरे जीरोन से शुरू होती है। विकास, ज्ञान और मानव सभ्यता से कटे इस भूखंड का आधार प्रकृति है या आदिमकालीन खेती का तरीका। उनकी जरूरतें प्रकृति और खेती से पूरी होती हैं या लड़ाई जैसे गैर आदिवासी गांवों से चीजों के आदान-प्रदान वाले व्यापार से। जीरोन के आदिवासियों को विकास परियोजनाओं की कोई जानकारी नहीं है। वे प्रकृति पर बाहरी दखलों और उसके हरेपन को मिटाने को ही देख रहे हैं या फिर लड़ैई आदि गांवों से लोगों के खिसक जाने के कारण आदान-प्रदान की मात्रा में आ रही कमी को। वे समझ रहे हैं कि स्थितियां अब उनके लिए वैसी उपयुक्त नहीं रहीं जैसी अब तक हुआ करती थीं। बाहरी दखलों को खदेड़ने का उपाय भी वे सोच रहे हैं। उन्हें ऐसा आभास भी हो रहा है कि लोग उजड़कर इधर-उधर भाग रहे हैं। यही उनका केंद्रीय डर भी है कि कोई जीरोन में आकर न बस जाए।

खेरे का मुखिया चिंतित है। उसे अपने बाद का मुखिया घोषित करना है। नियम के अनुसार अगले मुखिया जिसे राउतों की भाषा में गुनियां कहा जाता है, की घोषणा उसके जन्म पर ही करनी है। गुनियां घोषित होने के बाद गुनियां माई को पुरुष सहवास से वंचित होना है। गुनियां का चुनाव गुनियां माई का चुनाव भी है। जीरोन की यह कथा परोक्ष में स्त्री के प्रति एक सार्वभौमिक दृष्टि को खूबी से रेखांकित कर जाती है। समाज की बेहतरी या अभीष्ट को पाने के सारे तरीके स्त्री को प्रतिबंधित करके ही साधे जाते हैं। राउतों की कथा में मुइया और फुलिया भी आंतरिक वेदना इस तथ्य को उजागर कर गई है कि जो समाज जितना ज्यादा अशिक्षित और विकास से कटा होगा, वहां स्त्री की स्थिति उतनी ही दारुण होगी।

पार में जीरोन के साथ-साथ लड़ैई की यात्रा भी चल रही है। लड़ैई और उसके चरित्रों का परिचय *डूब* में मिल गया था। यहां ग्राम समाज के तीन छोर हैं। एक तरफ सावों का व्यापारी वर्ग है। दूसरी तरफ मंदिर के पुजारी बामन महाराज का पुत्र कैलाश महाराज है और तीसरा छोर है — इमरज सिंह यादव उर्फ माते। साव लोग *डूब* में ही गांव छोड़ गए थे। वे गुरैना, चंदेरी आदि बाहरी कस्बों में बस गए थे। गांवों में बची है उनकी स्मृति। केवल निर्मल साव उर्फ घूरे साव गांव में है। उसका धंधा जीरोन से चलता है, इसलिए वह टिका हुआ है। गांव के दुख, दर्द, व्यथा की धुरी है—माते।

डूब में लड़ैई डूब-क्षेत्र में आ गया था। *पार* में आकर पता चला लड़ैई डूब में नहीं आएगा, वहां अभयारण्य बनेगा। यानी लड़ैई की बारी बांध परियोजना पूरी होने के बाद आएगी। विस्थापन की तलवार लटकी हुई है ज्यों की त्यों। पर विकास अब भी नहीं होगा—मुआवजे के इंतजार में कई वर्ष और बैठना पड़ेगा। अब घूरे साव और कैलाश महाराज की चिंता मुआवजे की है। वे किसी भी तरीके से अधिक से अधिक जमीन अपने नाम लिखवा कर मुआवजा हड़पने की ताक में हैं। माते की चिंता गांव को बसाए रखने और विस्थापन की तलवार तले से निकलने की है। माते अपने मकसद के लिए गांव के पढ़े-लिखे और लेखक बेटे के लौट आने की उम्मीद में है। रामदुलारे के लौटने पर जैसे गांव की आशा ही लौट आती है। घूरे साव और कैलाश महाराज के लिए यही अशुभ है।

पार के बाद का हिस्सा गांव को बचाने और मुआवजे के लिए नए-नए षडयंत्र रचने के बीच की गुत्थमगुत्था है। सही में उपन्यास की मूल चिंता विकास के प्रारूप को लेकर है। जन-जीवन को अस्तव्यस्त कर, विनाश के कगार तक पहुंचा देने वाले विकास का औचित्य क्या है? परिकल्पना में मानवीय पक्ष छूट क्यों जाते हैं? *पार* इसी की तह में जाने का प्रयास है।

---

* **पार** : वीरेंद्र जैन; वाणी प्रकाशन, दिल्ली-2; पृष्ठ : 167; मूल्य : 125 रुपये।

समीक्षा

●

पत्रिका

समकालीन सृजन : संपादक—गोपाल राय; इस विशेषांक के संपादक : लक्ष्मण केडिया; पृष्ठ : 284; मूल्य : 25 रुपये।

समकालीन सृजन ने जाने-माने कवि स्व. भवानी प्रसाद मिश्र के व्यक्तित्व और कृतित्व पर विशेषांक निकालकर एक महत्वपूर्ण कार्य किया है। आज जबकि बहुत-से वरिष्ठ और अल्प वरिष्ठ रचनाकारों पर अनेक विशेषांक और पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं, तब भवानी प्रसाद मिश्र जैसे उल्लेखनीय कवि पर अभी तक इस तरह का कोई आयोजन न हो पाना आश्चर्य और चिंता का विषय है। इस विशेषांक के संपादकीय में इस आयोजन की आवश्यकता बताते हुए कहा गया है : 'भवानी प्रसाद मिश्र की रचनाधर्मिता पर पुनर्विचार की आवश्यकता सिर्फ इसलिए नहीं है कि अब तक उन पर कोई क्रमवार विचार नहीं किया गया है, अपितु इसलिए जरूरी है कि महान राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन तथा स्वातंत्र्योत्तर काल में विभिन्न वैचारिक मान्यताओं और वादों के तहत पनप रही रूढ़ियों एवं शोषित मानवता के संघर्ष-काल में इस रचनारत कवि के व्यापक सर्जना-संसार के समग्र विकास पर न व्यापक चर्चा हुई है और न ही वस्तुपरक आलोचना।' संपादकीय में भवानी प्रसाद मिश्र की उपेक्षा के बारे में कहा गया है : 'जब गांधी पर ही पुरजोर आक्रमण चल रहा हो तो भवानी प्रसाद मिश्र का आलोचना के एक कोने में पड़ा रहना आश्चर्यजनक नहीं है। भवानी प्रसाद मिश्र के साथ बरती गई उपेक्षा का निराकरण ही हमारी इस संपूर्ण आयोजना का लक्ष्य है।'

दरअसल भवानी प्रसाद मिश्र का कवि व्यक्तित्व इतना विशद और बहुआयामी है कि उस पर इस तरह का विस्तृत आयोजन होना ही चाहिए था। हालांकि इसे भी पूरी तरह पर्याप्त नहीं माना जा सकता और संपादकीय में इस बात को स्वीकार करते हुए कहा भी गया है : 'सभी ने हमारी योजना में पर्याप्त सहयोग दिया। कुछ आलोचक अपना मौन नहीं तोड़ सके। अतः हम चाहकर भी उनके लेख नहीं दे सके। जितना हम इकट्ठा कर सके हैं, वह भवानी भाई की एक मुकम्मल तस्वीर उपस्थित करता है। हालांकि काफी परिश्रम के बाद भी निःसंदेह कुछ पहलू छूट गए होंगे। लेकिन हमारा प्रयास रहा है कि भवानी प्रसाद मिश्र पर केंद्रित इस अंक के माध्यम से हम केवल एक कवि के संसार को ही नहीं, अपने संसार को, अपने समाज को, समूची प्रकृति और सृष्टि को और अंततः उन सभी सुंदर चीजों को पहचान सकें, जिन्हें खो जाने से पहले बचा लेना है।'

विशेषांक में मिश्र जी की कुछ 'अप्रकाशित रचनाएं' भी दी गई हैं, जिनमें पांच कविताएं, एक लेख, दो टिप्पणियां, तीन डायरी अंश तथा एक छोटा-सा रेडियो रूपक भी है। 'दस्तावेज' के अंतर्गत मिश्र जी की कुछ कविताएं तथा निबंध दिए गए हैं। 'दृष्टिकोण' के अंतर्गत हजारी प्रसाद द्विवेदी, दिनकर, जैनेंद्र कुमार, मुक्तिबोध, प्रभाकर माचवे, श्रीकांत वर्मा, रघुवीर सहाय, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना और उदय प्रकाश के भवानी प्रसाद मिश्र संबंधी विचारों को संकलित किया गया है। इसी तरह 'संस्मरण' के अंतर्गत कुछ लोगों के भवानी-संबंधी अंतरंग संस्मरण दिए गए हैं।

इसके अलावा इस अंक के संपादक लक्ष्मण केडिया द्वारा एक अन्य महत्वपूर्ण कवि त्रिलोचन से भेंटवार्ता भी दी गई है, जिसमें भवानी प्रसाद मिश्र के कवि-व्यक्तित्व को समझने-समझाने की चेष्टा की गई है।

भवानी प्रसाद मिश्र को उनकी कविताओं के माध्यम से समझने, परखने और व्याख्यायित करने के लिए 19 लेख संकलित किए गए हैं, जिनमें विजय बहादुर सिंह, शंभुनाथ, अलका सरावगी, अवधेश प्रसाद सिंह के आलेख महत्वपूर्ण हैं। अंत में परिशिष्ट के अंतर्गत भवानी प्रसाद मिश्र के जीवन और कार्यों का संक्षिप्त, किंतु उल्लेखनीय ब्यौरा दिया गया है।

कुल मिलाकर यह विशेषांक भवानी प्रसाद मिश्र पर महत्वपूर्ण सामग्री प्रस्तुत करता है। कहना चाहिए कि यह एक सफल और सराहनीय आयोजन है।

— योगेंद्र दत्त शर्मा

अगले अंक में

❑ **मृत्यु की घोषणा और उसके बाद**
उत्तर आधुनिकता पर **प्रदीप आत्रेय**

❑ **मनुष्य जैसी ट्रजिक कॉमिक चीज दुनिया में दूसरी है ही नहीं**
मनोहर श्याम जोशी से **महेश दर्पण** की बातचीत

❑ **'हरिया हरक्यूलीज' के बहाने हिंदी उपन्यास**
जितेंद्र भाटिया द्वारा 'हरिया हरक्यूलीज की हैरानी' के बहाने हिंदी उपन्यास पर कुछ सवाल

❑ **सबरस : अमृत का स्रोत**
वी.पी मुहम्मद कुंज मेत्तर द्वारा दक्खिनी के लेखक मुल्ला वजही का मूल्यांकन

❑ **सी.के. नायडू : व्यक्तित्व और खेल शैली**
महान क्रिकेट खिलाड़ी सी.के. नायडू के व्यक्तित्व पर **सूर्य प्रकाश चतुर्वेदी**
सीमस हीनी की कविताएं तथा कहानी, समीक्षा आदि।

आजकल
दिसंबर 1995

पृष्ठ 5 से आगे

और गोपाल राय के आलेख भी तर्कपूर्ण वक्तव्यों के माध्यम से वर्तमान पीढ़ी के सृजनकर्म को समकालीन दृष्टि प्रदान करते हैं। उपन्यासों के काल संबंधी सीमा निर्धारण में समीक्षक ने कुछ भूल अवश्य की है क्योंकि नई पीढ़ी के साथ नासिरा शर्मा के उपन्यासों की इतनी विशिष्टता के साथ चर्चा करने को समवयता का प्रभाव ही माना जाएगा। फिर भी इस निबंध से जाहिर होता है कि इस घटाटोपी सभ्यता के दौर में भी यह आवश्यक और प्रभावी अभिव्यक्ति माध्यम है। कविताओं की शृंखलाओं में अधिकतर कमजोर रचनाएं पाकर दुख हुआ। सवाल उभरता है कि हमारे नए कवियों के पास जीवनानुभवों की कमी, होमवर्क का समुचित अभाव और काव्य परंपरा का ज्ञान क्या वास्तव में इतना कमजोर है कि इस हद तक इतनी स्तरहीन और सपाट ढंग की कविताओं का सृजन हो रहा है। बहरहाल इसमें शामिल एकांत श्रीवास्तव, कृष्णमोहन झा, दिनेश कुशवाह और विमल कुमार की कविताएं ही सुख दे पाती हैं।

मुक्ता, लाल्टू, तेजी ग्रोवर और उमेश प्रसाद सिंह की कहानियां पठनीय हैं और प्रभावोत्पादक भी। मुक्ता ने अपनी चिरपरिचित लेखनशैली और कथा तत्वों से बुनी नई संवेदनात्मक तंतुओं के सहारे कलावंती मैना की ऐसी जीवन कथा उकेरी है कि पूरे संदर्भों और बिखरते रिश्तों की सहज तस्वीर आंखों के आगे नाच जाती है। इस कहानी की विषयवस्तु कथानक और ताजी प्रयोगात्मक शैली इतना मर्मस्पर्शी है कि बार-बार पढ़ने को प्रेरित होना पड़ता है। कवि-कथाकार लाल्टू की कहानी 'फैक्ट्री' युवा मन के समकालीन जीवन मूल्यों से जूझती मनोव्यथा को प्रदर्शित करती है। शेष कहानियां सामान्य किस्म की हैं। संजय सहाय का लघु उपन्यास 'मध्यांतर' मध्य बिहार के ग्रामीण परिवेश में यथार्थ के बदलते तथ्यों को उजागर करता है। पुनरुत्थान होते ग्रामीण सामंतवाद और कमजोर तबके की बदहाली को चित्रित करता है इसका कथात्मक अनुभव और संवेदना की जमीन पर खरा उतरता है। उपन्यास की शैली रोचक और व्यंग्यात्मक भी जहां-तहां हो गई है। ऐसे उपन्यासों को *आजकल* में जगह दी ही जानी चाहिए। मंगलेश डबराल से बातचीत और उनकी कविता पुस्तक की समीक्षा उनकी सतत सृजनधर्मिता और प्रतिबद्धता को स्पष्ट करती है। समकालीन कविता के परिदृश्य पर छा जाने वाले इस कवि की शुरूआती कविताएं पहाड़ी जीवन की सुखद स्मृति रेखा हैं, जो नवोदितों के लिए पाथेय हुई हैं। कवि ने सचमुच संघर्षों और अवरोधों के 'पहाड़ पर लालटेन' जलाने की कोशिश की है। हिंदी कहानी के युवा चेहरों को सामने उभारता अनूप शुक्ल का आलेख केवल अपने समीपवर्ती कथाकारों के संग्रहों को ही वर्णित करता है। संपादक केवल लेखकों के नाम पर ही न जाकर अच्छी रचनाओं के चयन में दृढ़ता करते तो यह अंक ऐतिहासिक महत्व का होता। जेनुइन-रचना कर्म को बढ़ावा देने पर ही इस रचना विरोधी समय में युवा लेखकों को प्रोत्साहन मिलेगा।

— लक्ष्मीकांत मुकुल, बक्सर

समय की धड़कन की अभिव्यक्ति

● यह अंक कविता के अंत का नारा देने वालों के मुंह पर एक तमाचा है। आज का युवा हिंदी लेखन नए प्रतीक, मुहावरे और समय की धड़कनों को अभिव्यक्ति देता स्वर्णिम भविष्य की ओर बढ़ता जा रहा है। इस अंक की तमाम कविताओं से प्रभावित हुआ हूं। मखौटा संस्कार, अपसंस्कार, राजनीतिकरण, बेचैनी, कुंठा, हिपोक्रेसी, मोहभंग, संवेदना और अनुभूति के नए आयाम इत्यादि विषयों पर गंभीरतापूर्वक चलाई गई कलम आज की कविता को मूलधारा से जोड़ती है। पंकज चतुर्वेदी ने अपनी कलम से मौजूदा हालात की सही तर्जुमानी की है। विजयशंकर चतुर्वेदी ने 'तेतीस करोड़ देवता' के जरिए सत्य की स्थापना पर जोर दिया है। वैसे भी हम एक खतरनाक समय से गुजर रहे हैं—जब कंप्यूटर का उद्घाटन नारियल फोड़कर किया जा रहा है और देवता तमाम विसंगतियों के बावजूद दूधग्रहण कर रहे हैं। इंदिरा राठौर, बद्रीनाराण विमलकुमार, संजय चतुर्वेदी, कुमार अंबुज आदि कवि प्रासंगिक हैं तथा भविष्य की कविता के महत्वपूर्ण स्तंभ हैं।

कहानी मुअम्मा नहीं, कहानी लफ्फाजी नहीं। कहानी से कहानी के गायब होने का संकेत कुछेक रचनाओं में है। अलका सरावगी की कहानी खंडों में है और 'बांइंडिंग एलिमेंट का अभाव है। आनंद संगीत कविता में मुग्ध हुए हैं और कहानी फिसल गई है। ठीक यही दशा उमेश कुमार सिंह, मीराकांत, लाल्टू की है। 'अमोनिया' (तेजी ग्रोवर), 'अजनबीपन' (प्रियदर्शन), 'उत्कल एक्सप्रेस' (संदीप), लूला (हरिसुमन बिष्ट) तथा क्षमा कौल व क्षमा शर्मा की कहानियां अपने कथ्य और तकनीकी स्तर पर अच्छी कहानियां हैं। इन्हीं में जबर्दस्त कहानियों को सूचीबद्ध किया जाए तो बेशक प्रेमपाल शर्मा की 'पिज्जा और छेदीलाल' वह कहानी है।

उपन्यास 'मध्यांतर' में गजब का प्रवाह है। हिंदुस्तानी समाज में ठेठ बिहारी मानसिकता को शब्दशः चित्रित किया गया है। स्वार्थपरकता, परपीड़न और प्रतिस्पर्धा के बेतुकी दौड़ की सशक्त अभिव्यक्ति हुई है। हम आपके अहसानमंद हैं इस उपन्यास के लिए। संपूर्ण अंक युवा लेखकों की जरूरत है। मंगलेश डबराल से बातचीत सार्थक रही। एक अच्छी छपी हुई कविता के लिए पत्रिकाओं को ज्यादा से ज्यादा प्रयास करना चाहिए। इधर यकीनन गीत, ग़ज़ल की बाढ़-सी आई हुई है। भाई पंकज चतुर्वेदी ने जिस तरह से मंगलेश डबराल की दूसरी कविता पुस्तक पर कलम चलाई है, उससे उनकी दृष्टि के पैनेपन और बेबाकी का पता मिलता है।

— अनवर सुहैल, सरगुजा



गांधीजी

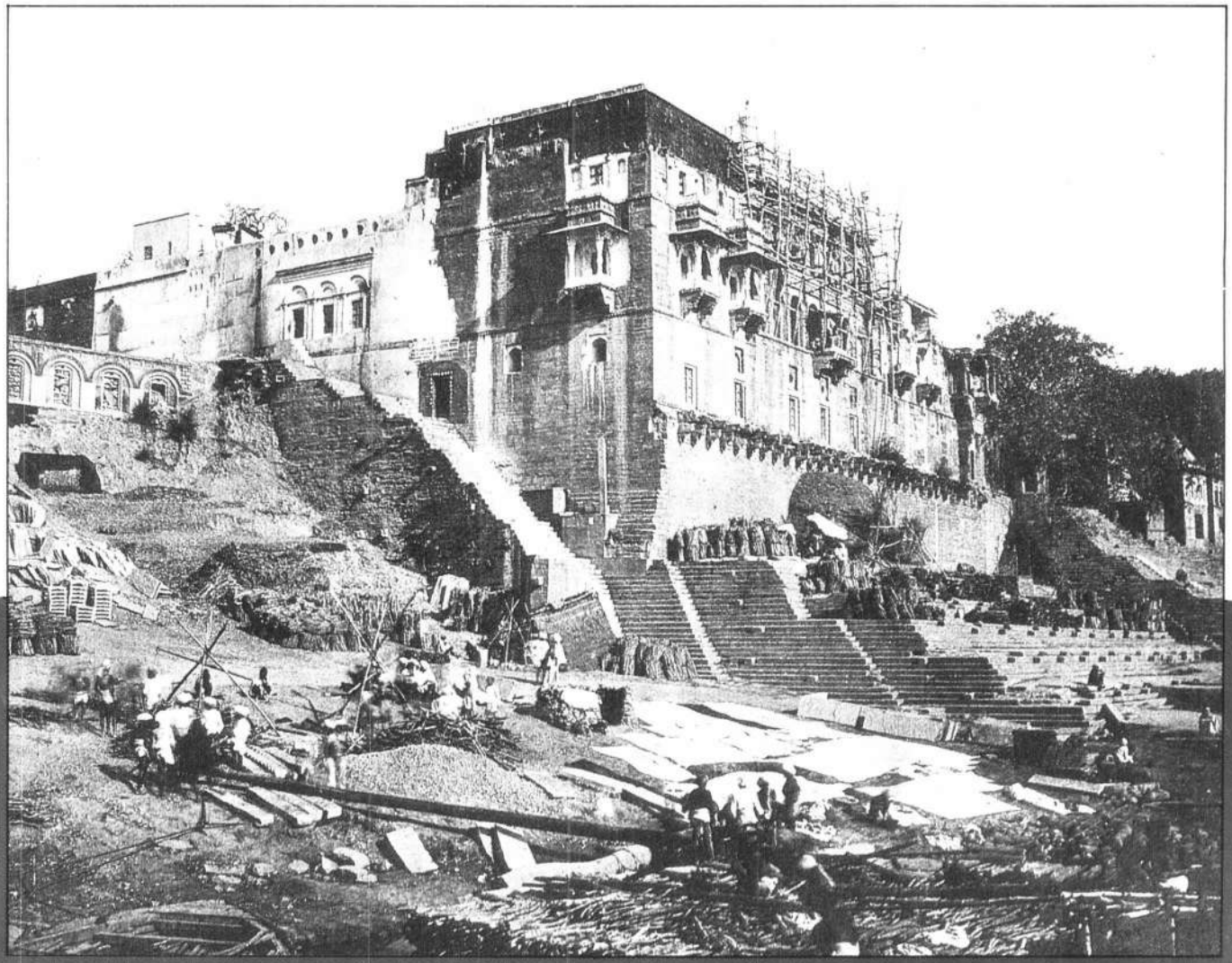
एक महात्मा की संक्षिप्त जीवनी

विंसेंट शीन की प्रसिद्ध पुस्तक 'ए ग्रेट लाइफ इन ब्रीफ' पहली बार हिंदी में

मूल्य : 50 रुपये

संपर्क :
व्यापार व्यवस्थापक
प्रकाशन विभाग
पटियाला हाउस
नई दिल्ली - 110001

डाक तार पंजीयन सं. डी. (डी. एल.) 12035/94 बिना पूर्व भुगतान के डी. पी. एस. ओ., दिल्ली में पोस्ट करने के लिए लाइसेंस
यू (डी.एन.)-49 प्राप्त दिल्ली डाक आर. एन. 701/57
Postal Regn. No. D (DL)/12035/94 Delhi Postal
Licenced U (DN)-49 to post without pre-payment at DPSO, Delhi R.N. 701/57



मनमंडल घाट, वाराणसी, 1869 : ब्रजगोपाल ब्रह्मचारी

निदेशक, प्रकाशन विभाग, पटियाला हाऊस, नई दिल्ली-110001 द्वारा प्रकाशित